आचार्य कुन्दकुन्द कृत

अट्ठपाहुड

ॐ

Pandit Nathuram Premi Research Series Volume 6

Ācārya Kundkunda's

AṬṬHAPĀHUḌA

Translated by
Dr. Jaykumar Jalaj

Edited by
Manish Modi

Hindi Granth Karyalay
Mumbai, 2008

"Aṭṭhapāhuḍa"
By Ācārya Kundkunda
Pandit Nathuram Premi Research Series Volume 6
Hindi translation by Dr. Jaykumar Jalaj
Edited by Manish Modi
Mumbai: Hindi Granth Karyalay, 2008
ISBN 978-81-88769-15-5 (pb)

HINDI GRANTH KARYALAY
Publishers Since 1912
9 Hirabaug CP Tank
Mumbai 400004 INDIA
Phones: + 91 (022) 2382 6739, 2035 6659
Email: gommateshvara@gmail.com
Web: www.hindibooks.8m.com
Blog: http://hindigranthkaryalay.blogspot.com
Yahoogroup: http://groups.yahoo.com/group/Hindibooks
Yahoogroup: http://groups.yahoo.com/group/JainandIndology

First Edition: 2006
Second Revised Edition: 2008
© Hindi Granth Karyalay

Cover design by: AQUARIO DESIGN
Designer: Smrita Jain, smritajain@gmail.com

Price: Rs. 120/-

Printed in India by Trimurti Printers, Mumbai

ॐ

पण्डित नाथूराम प्रेमी रिसर्च सिरीज़ वॉल्यूम ६

आचार्य कुन्दकुन्द कृत

अट्ठपाहुड

(अष्टप्राभृतम्)

हिन्दी अनुवाद

डॉ. जयकुमार जलज

सम्पादन

मनीष मोदी

हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय

मुम्बई, २००८

प्रकाशकीय

तीर्थंकर भगवान् महावीर और गौतम गणधर के बाद आचार्य कुन्दकुन्द जैन परम्परा के प्रतिष्ठित आचार्य हैं। उनका **अट्ठपाहुड** ग्रन्थ अपने व्यावहारिक और यथार्थवादी निर्देशों के कारण प्रशासनिक अनुशासन की एक ऐतिहासिक महत्त्व की रचना है। उसे हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत करना हमारे लिए गौरव का विषय है।

अट्ठपाहुड का यह अनुवाद संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश जैसी भाषाओं में गुम्फित आचार्यों की रचनाओं की भाषागत दूरी को ख़त्म करके उन्हें मात्र शिरोधार्यता का ही नहीं स्वाध्याय का भी सुलभ विषय बनाने के हमारे शृंखलाबद्ध प्रयत्न की ही एक और विनम्र कड़ी है।

हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय के लिए **रत्नकरण्ड श्रावकाचार, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, परमात्मप्रकाश, योगसार, द्रव्यसंग्रह, ध्यानशतक, ध्यानस्तव** और प्रभाचन्द्रकृत **तत्त्वार्थसूत्र** की तरह ही आचार्य कुन्दकुन्द कृत **अट्ठपाहुड** का हिन्दी अनुवाद भी हमारे विशेष अनुरोध पर ख्यात साहित्यकार डॉ. जयकुमार जलज ने किया है। मध्य प्रदेश शासन द्वारा प्रकाशित जिनकी पुस्तक **भगवान् महावीर का बुनियादी चिन्तन** अल्प समय में ही बीस संस्करणों और अनेक भाषाओं में अपने अनुवादों तथा उनके भी संस्करणों के साथ पाठकों का कण्ठहार बनी हुई है।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत **अट्ठपाहुड** का डॉ. जयकुमार जलज कृत यह अनुवाद भी उनके अन्य अनुवादों की तरह ही मूल रचना का अनुगामी है। इसमें कहीं भी अपने पाण्डित्य का हौआ खड़ा करने की प्रवृत्ति नहीं है। इसकी भाषा शब्द प्रयोग के स्तर पर ही नहीं, वाक्य संरचना के स्तर पर भी बेहद सहज और ग्राह्य है। वह एक ऐसी भाषा है जैसी संस्कृत अथवा मध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषाओं के हिन्दी अनुवादों में साधारणत: प्रयुक्त नहीं मिलती।

यह अनुवाद आतंकित किये बिना सिर्फ़ वहीं तक साथ चलता है जहाँ तक ज़रूरी है, और फिर भगवान् महावीर के सिद्धान्तों को बेहद सरल रूप में प्रस्तुत करते हुए चतुर्विध संघ के ख़ास तौर पर साधु परमेष्ठी के आचरण को अपने स्नेहिल, प्रेरणात्मक लेकिन दृढ़ निर्देशों से निरन्तर अनुशासित रखनेवाले इस कालजयी ग्रन्थ का सहज सान्निध्य पाठक को सौंपता हुआ नेपथ्य में चला जाता है। अल्प समय के भीतर ही इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है।

यशोधर मोदी

प्रस्तावना

भगवान महावीर के अनुयायी रचनाकारों में आचार्य कुन्दकुन्द सबसे अधिक पूर्ववर्ती, चर्चित और स्मरणीय आचार्य हैं। अनेक जैन आम्नाय उन्हें महावीर, गौतम गणधर और जैन धर्म के साथ एक ही पंक्ति में रखकर स्मरण करते हैं और उन्हें भी मंगल रूप मानते हैं।

अधिकांश प्राचीन जैन आचार्य रचनाकारों की तरह ही कुन्दकुन्द के जीवनवृत्त के बारे में भी कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। अपने विपुल साहित्य में वे अपने बारे में कहीं क्षीणतम संकेत भी नहीं देते। अपनी देह को भी अपना नहीं मानने के दर्शन में आस्था रखने वालों के लिए यह स्वाभाविक ही है कि वे आखिर अपना कहें तो क्या और किसे अपना कहें?

अट्ठपाहुड के बोहिपाहुड में कुन्दकुन्द ने भद्रबाहु को अपना गमक गुरु कहा है। (गाथा : १७०) लेकिन ये भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्य युगीन भद्रबाहु हैं या कोई परवर्ती भद्रबाहु यह स्पष्ट होना कठिन है। कुन्दकुन्द द्वारा उन्हें अपना गमक गुरु कहने का अर्थ तो यह है कि वे उनके समकालीन साक्षात् गुरु नहीं परम्परागत या प्रेरक गुरु थे। नन्दीसंघ की गुर्वावली में जो तिथियाँ दी हुई हैं उनके अनुसार कुन्दकुन्द को १०६ ईस्वी में आचार्य पद मिलना और १५८ ईस्वी में उनका स्वर्गवास होना सूचित होता है। ऐसी स्थिति में अनेक विद्वानों द्वारा कुन्दकुन्द को ईसा की पहली सदी का आचार्य मान्य किया जाना उचित ही है। जो भी बाह्य प्रमाण उपलब्ध हैं उनके अनुसार कुन्दकुन्द का मूल नाम पद्मनन्दि, उनके गुरु का जिनचन्द्र और उनके दादागुरु का माघनन्दि था। दक्षिण के शिलालेखों में कुन्दकुन्द का नाम कोण्डकुन्द पाया जाता है। तमिलनाडु में गुंतकुल के पास कुण्डकुण्डी नामक गाँव है। वहाँ एक गुफा में जैन मूर्तियाँ होने से इस अनुमान को बल मिलता है कि वही आचार्य कुन्दकुन्द का मूल निवास स्थान और तपस्या भूमि रहा होगा। कदाचित् गाँव के नाम पर ही, जैसा कि पं. नाथूराम प्रेमी का विचार है, पद्मनन्दि को कोण्डकुन्द कहा गया होगा जिसका शब्द विकास कुन्दकुन्द में हुआ और फिर यही नाम अधिक प्रचलित हो गया।

कहा जाता है कि कुरलकाव्य के रचनाकार भी कुन्दकुन्द ही हैं। कुन्दकुन्द की कृतियों की सूची से यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि उनकी प्रतिभा मौलिक साहित्य सृजन की प्रतिभा है। वह टीका, व्याख्या, अनुवाद आदि में नहीं रमती।

आचार्य कुन्दकुन्द मूलत: संवेदनशील और विचार सम्पदा के धनी कवि हैं। उनका रचनाकर्म भाव और अध्यात्म पर एकाग्र है। आचार्य होने के नाते वे शास्त्रीयता से बँधे ज़रूर हैं। पर वह उनके रचनात्मक साहित्य सृजन पर हावी नहीं हो पाती।

आचार्य कुन्दकुन्द को इतिहास ने दोहरी जिम्मेवारी सौंपी थी। एक ओर जहाँ उन्हें श्रमण भगवान् महावीर के दर्शन को बेहद सरल और मार्मिक रूप में प्रस्तुत करके उसे जन-जन तक पहुँचाना था वहीं दूसरी ओर इससे भिन्न स्वभाव की भूमिका का निर्वाह करते हुए चतुर्विध जैन संघ के बिखराव को भी रोकना था। उन्हें मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका को सुदृढ़ और एकजुट रखने का कठिन दायित्व निभाना था। वे संघ में बिखराव और शिथिलता के विरुद्ध दृढ़ता से खड़े हुए मिलते हैं। उनके दिशानिर्देश काल की कसौटी पर खरे उतरे हैं और उनकी प्रामाणिकता तथा प्रासंगिकता पर कभी कोई प्रश्न खड़ा नहीं हुआ। उनके निर्देश और कथन आज भी सर्वोच्च और

अन्तिम माने जाते हैं। जैन परम्परा में वे कुन्दकुन्द और उमास्वामी ही हैं जो आखिरी अदालत हैं। उमास्वामी (**तत्त्वार्थसूत्र** के रचयिता) कुन्दकुन्द के शिष्य थे। पहले दायित्व के निर्वाह ने जहाँ कुन्दकुन्द को कवि और दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठापित किया वहीं दूसरे के निर्वाह ने उन्हें एक सफल और कठोर प्रशासक के रूप में प्रतिष्ठा दी। पहले का चरम प्रतिफलन **समयसार** के सृजन में और दूसरे का **अट्ठपाहुड** (जिसे प्रायः अष्टपाहुड कहा जाता है) की रचना के रूप में हुआ।

आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् महावीर और पूर्ववर्ती तेईस तीर्थंकरों के सिद्धान्तों का जिस गहन भावात्मक जुड़ाव के साथ प्रतिपादन करते हैं उनकी कविता और मौलिकता उसी में है। उक्त सिद्धान्तों से विचलन का, उनसे हटने का तो सवाल ही नहीं है। कुन्दकुन्द उन्हें अपनी आत्मा की जिस अतल गहराई से अभिव्यक्त करते हैं वह पाठक में दूर तक लहरें उठाती है। प्रत्येक युगान्तरकारी व्यक्तित्व मौलिकता के अपने इसी स्वरूप में रमण करता है। महावीर के सिद्धान्तों के प्रति कुन्दकुन्द का मन, वचन, काय से चरम समर्पण भाव और आस्था उनकी कविता को एक ईमानदार मौलिक चमक और अनूठा व्यक्तित्व प्रदान करती है।

प्रशासन और कविता दोनों अलग-अलग स्वभाव की विधाएँ हैं। दोनों का एक साथ निर्वाह तलवार की धार पर चलना है। कुन्दकुन्द तलवार की इस धार पर बेहद सहजता से चलते हुए मिलते हैं। वे जानते हैं कि इसके लिए शास्त्र की नहीं लोक की भाषा ही सच्ची सहायिका होती है। इसलिए उन्होंने उसी का सहारा लिया। उन्होंने अपनी सृजनशीलता के लिए जिस भाषा माध्यम को चुना वह जन-जन की भाषा शौरसेनी प्राकृत थी। पाण्डित्य का बोझ न तो उनके कथ्य में है और न उनकी भाषा में। दरअसल उन्हें महावीर के रास्ते की अचूक पहचान और पकड़ है।

प्राकृत का पाहुड शब्द संस्कृत के प्राभृत शब्द से, जिसका अर्थ उपहार है, रूपान्तरित हुआ है। कह सकते हैं कि यह साधक आत्मा की ओर से परम आत्मा को दिया गया उपहार है। आभृत का अर्थ प्रस्थापित करना, धारण करना भी है। प्रकृष्ट आचार्यों द्वारा धारित/व्याख्यायित ज्ञान को प्राभृत कहा गया होगा। प्राभृत का अर्थ अधिकार यानी अध्याय भी मिलता है। इस अर्थ में प्राभृत/पाहुड विषय विशेष पर रचित अध्याय है। वह विषय विशेष की प्रतिपादक रचना है। आचार्य कुन्दकुन्द को पाहुड रचना में विशेष महारत हासिल है। कहते हैं, उन्होंने ८४ पाहुडों की रचना की थी।

पाहुड प्राकृत भाषा की मुक्तक काव्य विधा है। कुन्दकुन्द के कारण इसे इतनी लोकप्रियता मिली कि आगे चलकर अपभ्रंश के कवि मुनि रामसिंह ने भी इसे अपनी कृति **पाहुड दोहा** में अपनाया। **अट्ठपाहुड** में कुन्दकुन्द ने दर्शन, सूत्र, चारित्र, बोध, भाव, मोक्ष, लिंग और शील इन आठ विषयों को गाथा छन्द में निबद्ध किया है। अलग-अलग शीर्षकों के बावजूद आठों पाहुड एक समान सूत्र से परस्पर जुड़े हुए हैं। ये सब एक ही मार्ग- मोक्षमार्ग का सम्मिलित रूप में प्रतिपादन करते हैं और दरअसल वे उसी एक के आठ घटक हैं।

जयकुमार जलज

30 इन्दिरा नगर, **रतलाम**, मध्य प्रदेश 457 001

दूरभाष : (07412) 260 911, 404 208, (0) 98936 35222

ई-मेल : jaykumarjalaj@yahoo.com

अनुक्रमणिका

दंसणपाहुड (दर्शनप्राभृतम्)	.....	९
सुत्तपाहुड (सूत्रप्राभृतम्)	.....	१८
चारित्तपाहुड (चारित्रप्राभृतम्)	.....	२५
बोहिपाहुड (बोधप्राभृतम्)	.....	३६
भावपाहुड (भावप्राभृतम्)	.....	५०
मोक्खपाहुड (मोक्षप्राभृतम्)	.....	८९
लिंगपाहुड (लिङ्गप्राभृतम्)	.....	११४
सीलपाहुड (शीलप्राभृतम्)	.....	११९
विशेष शब्द	.....	१२८
गाथानुक्रमणिका	.....	१३४

अट्ठपाहुड

(अष्टप्राभृतम्)

- आचार्य कुन्दकुन्द

दंसणपाहुड

(दर्शनप्राभृतम्)

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स ।
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकम्मं समासेण ॥ १ ॥

आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव और तीर्थंकर भगवान् महावीर को नमन करके मैं संक्षेप में और क्रमानुसार सम्यग्दर्शन का विवेचन करता हूँ।

दंसणमूलो धम्मो उवदट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं ।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥ २ ॥

भगवान् जिनेन्द्रदेव ने शिष्यों को स्पष्ट उपदेश दिया है कि सम्यग्दर्शन ही धर्म की जड़ है। जो व्यक्ति इस उपदेश को समझते हैं वे सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति की वन्दना नहीं करते।

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥ ३ ॥

जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से भटक जाते हैं वे भटके हुए ही रहते हैं। उन्हें मोक्ष और सिद्धि नहीं मिलती। इसके विपरीत जो व्यक्ति (कर्मों के उदय से) सम्यक् चारित्र से भटक जाते हैं उनके फिर सही मार्ग पर आने और सिद्धि पाने की सम्भावना रहती है।

सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥ ४ ॥

सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति भले ही बहुत प्रकार के शास्त्रों का ज्ञाता हो लेकिन आराधना रहित होने के कारण वह नरक और संसार में ही परिभ्रमण करता रहता है। उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं ।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥ ५ ॥

सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति भले ही हज़ार करोड़ वर्ष तक कठोर तपस्या करे तो भी उसे बोधि/मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे ।
कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेण॥ ६ ॥

जिन व्यक्तियों में सम्यग्ज्ञान, दर्शन, बल तथा वीर्य की भरपूरता है और जो मलिन पापों से रहित हैं वे इस पंचम काल में भी शीघ्र ही केवल ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स ।
कम्मं वालुयवरणं बन्धुच्चिय णासए तस्स ॥ ७ ॥

जिस व्यक्ति के हृदय में सम्यग्दर्शन का जल प्रवाह निरन्तर बना रहता है उसे कर्म की बालू रज आवृत नहीं करती अर्थात् उसे कर्मों का बन्ध नहीं होता। अगर कर्मों की बालू रज ने उसे पहले से आवृत कर रखा हो तो वह भी हट जाती है। यानी उसका पुराना कर्मबन्ध भी छूट जाता है।

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य ।
एवे भट्ठ वि भट्ठा सेसं पि जणं विणासंति ॥ ८ ॥

जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन में, सम्यग्ज्ञान में और सम्यक् चारित्र में भ्रष्ट हैं वे महाभ्रष्ट हैं। उनकी संगति से अन्य व्यक्ति भी भ्रष्ट हो जाते हैं।

जो कोवि धम्मसीलो संजमतवणियमजोगगुणधारी ।
तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गत्तणं दिंति ॥ ९ ॥

ऐसे भ्रष्ट व्यक्ति नियम, संयम, योग तथा गुणों से सम्पन्न धर्मशील व्यक्तियों पर दोषारोपण करते रहते हैं। ख़ुद भ्रष्ट हैं पर भ्रष्टता का आरोप दूसरों पर लगाते हैं।

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी ।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति ॥ १० ॥

जड़ नष्ट हो जाने पर जैसे पेड़ का परिवार यानी शाखाएं, पत्ते नहीं बढ़ते वैसे ही जिनदर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हुए व्यक्ति को मोक्ष नहीं मिलता।

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होदि ।
तह जिणदंसण मूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स ॥ ११ ॥

पेड़ की जड़ हो तो स्कन्ध,शाखाओं आदि के रूप में उसका परिवार खूब फलता फूलता है। मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में सम्यग्दर्शन की भूमिका भी मूल (जड़) के रूप में ही है।

जे दंसणेसु भट्ठा पाए ण पडंति दंसणधराणं ।
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥ १२ ॥

जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से भटके हुए हैं मगर सम्यग्दृष्टि सम्पन्न व्यक्तियों के चरण स्पर्श नहीं करते, वे लूलामूका यानी एकेन्द्रिय जीव के रूप में जन्म लेकर निगोद में रहते हैं। उन्हें बोधि की प्राप्ति नहीं होती।

जे वि पडंति य तेसिं जाणंता लज्जागारवभयेण ।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं ॥ १३ ॥

और जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से सम्पन्न हैं लेकिन सम्यग्दर्शन से भटके हुए व्यक्तियों को जानते हुए भी उनके चरणों का स्पर्श, लज्जा, भय अथवा गौरव के कारण करते हैं उन्हें भी बोधि की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि वे पाप का अनुमोदन कर रहे हैं।

दुविहं पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि ।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होदि ॥ १४ ॥

आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह के त्यागी, मन वचन काय के योगों में संयमी, कार्य को करने, कराने और अनुमोदित करने में शुद्धता का निर्वाह करने वाले खड़े रहकर भोजन ग्रहण करने वाले सम्यग्दर्शन की मूर्ति स्वरूप व्यक्ति ही वन्दनीय हैं।

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी ।
उवलद्धापयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि ॥ १५ ॥

सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञान से सभी पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का बोध उत्पन्न होता है। तमाम उपलब्ध पदार्थों की कल्याण–अकल्याणकारकता भी सम्यग्ज्ञान से ही समझ में आती है।

सेयायेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि ।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहदि णिव्वाणं ॥ १६ ॥

पदार्थों की कल्याण-अकल्याणकारकता को समझने से व्यक्ति की दुःशीलता खत्म हो जाती है। वह शीलवान हो जाता है। शीलवान होने से उसे अभ्युदय (सभी सांसारिक सुखों) की और फिर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूंद ।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥ १७ ॥

जिनेन्द्र भगवान् के उक्त वचन विषय सुखों को दूर करने वाले, बुढ़ापे तथा मौत के रोग को हरने वाले और संभी दुःखों का क्षय करने वाले अमृत के समान हैं।

एगं जिणस्स रूवं विदियं उक्किट्ठसावयाणं तु ।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि ॥ १८ ॥

जैन धर्म में तीन ही स्वरूप/वेश हैं-एक जिनेन्द्र भगवान् का नग्न रूप, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक का और तीसरा आर्यिका का। इसमें किसी चौथे वेश की गुंजाइश नहीं है।

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा ।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ १९ ॥

जिनेन्द्र भगवान् ने छह द्रव्यों, नौ पदार्थों, पाँच अस्तिकायों, और सात तत्त्वों का विवेचन किया है। जो व्यक्ति इनमें श्रद्धा रखता है वह सम्यग्दृष्टि है।

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं होदि सम्मत्तं ॥ २० ॥

जिनेन्द्र भगवान् का कथन है कि जीव आदि पदार्थों में श्रद्धान रखना व्यवहारगत सम्यग्दर्शन है और अपने आत्म स्वरूप का अनुभव करना, उसमें श्रद्धान रखना निश्चयगत सम्यग्दर्शन है।

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण ।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढमं मोक्खस्स ॥ २१ ॥

इस प्रकार गुणों एवं रत्नत्रय का सार जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रणीत सम्यग्दर्शन ही है। वही मोक्ष की पहली सीढ़ी है। उसे भावपूर्वक धारण करना चाहिए।

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं ।
केवलिजिणेहिं भणिदं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥ २२ ॥

जिन्हें सम्भव हो वे इसे आचरण में ढालें। जिन्हें सम्भव न हो वे श्रद्धा बनाए रखें। जिनेन्द्र भगवान् ने श्रद्धावान को ही सम्यग्दृष्टि कहा है।

दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकालसुपसत्था ।
एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं ॥ २३ ॥

जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप तथा विनय में भली प्रकार लीन हैं और गणधर आचार्यों का गुण बखान करते हैं वे वन्दनीय हैं।

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ ।
सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी होदि एसो ॥ २४ ॥

जो (भगवान् के) यथाजात (नग्न) रूप को देखकर उसके प्रति विनय भाव नहीं रखते वे ईर्ष्याग्रस्त और दीक्षा ग्रहण करने के बावजूद मिथ्यादृष्टि हैं।

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं ।
जे गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति ॥ २५ ॥

अणिमा आदि ऋद्धियों के स्वामी और देवताओं द्वारा वन्दित भगवान् के स्वरूप को देखकर जो विनय करने के स्थान पर गर्वोन्नत बनते हैं वे सम्यग्दर्शन से रहित हैं।

अस्संजदं ण वन्दे वत्थविहीणोवि तो ण वंदिज्ज ।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥ २६ ॥

न तो असंयमी व्यक्ति वन्दना योग्य है और न खाली वस्त्ररहित व्यक्ति। इनमें से कोई भी संयमी नहीं है। दोनों समान रूप से असंयमी हैं।

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि यू कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो ।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ ॥ २७ ॥

न देह वन्दनीय है, न कुल और न किसी जाति विशेष का होना वन्दनीय है। गुणविहीन व्यक्ति की वन्दना क्या करना ? वह न तो सच्चा श्रमण है और न सच्चा श्रावक।

वंदमि तवसावण्णा सीलं य गुणं य बंभचेरं य ।
सिद्धिगमणं य तेसिं सम्मत्तेण सुद्धभावणे ॥ २८ ॥

तपस्वी श्रमण ही वन्दनीय हैं। सम्यग्दृष्टि पूर्वक शुद्ध भाव से उनके शील, गुण, ब्रह्मचर्य और मोक्षगमन की वन्दना करनी चाहिए।

चउसट्ठि चमरसहिदो चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो ।
अणवरबहुसत्तहिदो कम्मक्खकारणणिमित्तो ॥ २९ ॥

जो चौंसठ चामरों और चौंतीस अतिशयों के स्वामी हैं, जिनसे तमाम प्राणियों का निरन्तर हित होता है और जो कर्मों का क्षय करने में निमित्त हैं उन तीर्थंकर भगवान् की वन्दना करनी चाहिए।

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण ।
चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥ ३० ॥

ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चार के समान योग से जो संयम गुण विकसित होता है, उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा जिनशासन में उल्लिखित है।

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं ।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥ ३१ ॥

व्यक्ति के लिए प्रथम तो सम्यग्ज्ञान सारभूत है, फिर सम्यग्दर्शन और फिर सम्यक् चारित्र। सम्यक् चारित्र से मोक्ष प्राप्त होता है।

णाणम्मि दंसणम्मि च तवेण चरिएण सम्मसहिएण ।
चउण्हं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण सन्देहो ॥ ३२ ॥

सम्यक्त्व सहित ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चारों के समायोग से जीव को सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त होती है। इसमें सन्देह नहीं है।

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं ।
सम्मद्दंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोगे ॥ ३३ ॥

भगवान् के गर्भ, जन्म आदि कल्याणकों की परम्परा से जीव को निर्मल सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। अर्थात् वह तीर्थंकर पद को प्राप्त करता है। सम्यक्त्व यानी सम्यग्दर्शन तो एक ऐसा रत्न है जो देव, दानव और मनुष्यों द्वारा समान रूप से पूज्य है।

लद्धूण य मणुयत्तं सहिदं तह उत्तमेण गोत्तेण ।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसोक्खं य मोक्खं य ॥ ३४ ॥

उत्तम कुल के साथ मनुष्य जन्म और फिर सम्यक्त्व पाकर व्यक्ति मोक्ष का अक्षय सुख पा सकता है।

विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्तो ।
चउतीसअइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिदा ॥ ३५ ॥

केवल ज्ञान की प्राप्ति के बाद एक हजार आठ लक्षणों और चौंतीस अतिशयों से युक्त तीर्थंकर भगवान् जब तक लोक में विहार करते हैं उनका शरीर स्थावर प्रतिमा कहलाता है।

बारसविहतवजुत्ता कम्मं खविदूण विहिबलेण सं ।
वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥ ३६ ॥

तीर्थंकरों ने बारह प्रकार के तपों से युक्त अपने चारित्र के बल से कर्मों का नाश करके कायोत्सर्ग द्वारा शरीर छोड़कर श्रेष्ठ मोक्ष को प्राप्त किया है।

सुत्तपाहुड
(सूत्रप्राभृतम्)

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ॥ ३७ ॥

अरिहन्तों द्वारा कहे गए और गणधर देवों द्वारा भाषा में भली प्रकार निबद्ध किए गए सूत्रों के अर्थ से मुनिजन परमार्थ (मोक्ष) को साधते हैं।

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आइरियपरंपरेण मग्गेण ।
णाऊण दुविह सुत्तं वट्टदि सिवमग्ग जो भव्वो ॥ ३८ ॥

सूत्रों में भली प्रकार प्रतिपादित और फिर आचार्य परम्परा से प्राप्त हुए उनके शब्द और अर्थ को जो व्यक्ति समझता है और जीवन में उतारता है वह मोक्षमार्ग का पथिक है।

सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि ।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि ॥ ३९ ॥

जैसे धागे से रहित सुई खो जाती है लेकिन धागे में पिरोई हुई नहीं खोती वैसे ही जिनसूत्र से युक्त यानी जिनसूत्र का ज्ञाता व्यक्ति ही संसार से, जन्ममरण के चक्र से बचा रहता है।

पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणांसइ सो गदो वि संसारे ।
सच्चेदण पच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ॥ ४० ॥

जो व्यक्ति जिनसूत्र से सम्पन्न है वह संसार में पड़कर भी नष्ट नहीं होता। अदृश्य होने पर भी उसका स्वसंवेदन उसके प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। दरअसल वह तो संसार का यानी आवागमन के चक्र का ही नाश कर देता है।

सुत्तत्थं जिणभणिदं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं ।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी ॥ ४१ ॥

जीव अजीव से सम्बन्धित बहुत प्रकार का अर्थ जिनेन्द्र भगवान् ने सूत्रों में प्रतिपादित किया है। उसके आधार पर जो हेय (पुद्गल आदि) और अहेय (आत्मा) में भेद कर सकता है वह सम्यग्दृष्टि है।

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो ।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं ॥ ४२ ॥

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित सूत्र व्यवहार और परमार्थ के विवेचक हैं। उन्हें जानकर योगी मुनि अक्षय सुख प्राप्त करते हैं और अपने कर्ममल को नष्ट करने में समर्थ होते हैं।

सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो ।
खेडे वि ण कायव्वं पाणिपत्तं सचेलस्स ॥ ४३ ॥

जो व्यक्ति जिनसूत्रों के अर्थ से च्युत हैं वे प्रत्यक्ष मिथ्या दृष्टि हैं। ऐसे वस्त्र सहित मुनिवेशधारी को मज़ाक में भी पाणिपात्र आहार नहीं देना चाहिए।

हरिहरतुल्लो वि णरो सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी ।
तह वि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ ४४ ॥

जो व्यक्ति जिनसूत्रों के अर्थ से च्युत हैं वे भले ही हरि, हर जैसे सामर्थ्यवान हों वे दान पूजा आदि करके स्वर्ग तो जा सकते हैं लेकिन मोक्ष नहीं पा सकते। वे फिर संसार में आते हैं।

उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्मो य गरुयभारो य ।
जो विहरइ सच्छंदं पावं मच्छंदि होदि मिच्छत्तं ॥ ४५ ॥

जो व्यक्ति भले ही उत्कृष्ट शेर की तरह आचरण करता हो, बहुत परिकर्म अर्थात् तपश्चरण आदि क्रियाएं करता रहता हो, ऊँचे पद पर बड़े दायित्वों को संभालता हो लेकिन अगर जिनसूत्र से च्युत है यानी अगर जिनसूत्रों के अनुरूप न चलकर स्वच्छन्द विहार करता है तो पाप और मिथ्यात्व ही उसके हिस्से में आते हैं।

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं ।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥ ४६ ॥

परमदेव जिनेन्द्र भगवान् ने वस्त्र रहित शरीर, करपात्र द्वारा आहार का जो उपदेश दिया है वही एकमात्र मोक्षमार्ग है। शेष सभी अमार्ग हैं।

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि ।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए ॥ ४७ ॥

जो संयम से युक्त और आरम्भ आदि परिग्रहों वे विरत हैं वे ही सुर, असुर और मनुष्य लोक में वन्दनीय हैं।

जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता ।
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाहू ॥ ४८ ॥

जो साधु बाईस परिषहों को सौगुनी शक्ति के साथ सहन करते हुए अपने कर्मों की निर्जरा करते हैं वे वन्दनीय होते हैं।

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्म संजुत्ता ।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जा य ॥ ४९ ॥

वे साधु जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान से सम्पन्न हैं और एक वस्त्रधारी (जैसे क्षुल्लक) हैं वे भी नमन के योग्य हैं।

इच्छायारमहत्थं सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं ।
ठाणे ट्ठियसम्मत्तं परलोयसुहंकरो होदि ॥ ५० ॥

जिन सूत्र में उल्लिखित इच्छाकार (मैं निज स्वरूप की वांछा करता हूँ) के महान अर्थ से परिचित व्यक्ति निश्चय ही कर्मों का त्याग करता है। वह विशेष प्रतिमाधारी और सम्यग्दर्शन से युक्त (श्रावक) है। वह परलोक में सुख भोगता है।

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेइ णिरवसेसाइं ।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ ५१ ॥

जो आत्मस्वरूप की इच्छा नहीं करता और तमाम धर्म (दान, पुण्य आदि) करता फिरता है उसे सिद्धि (मोक्ष) नहीं मिलती। वह संसार में ही बना रहता है। उसका जन्ममरण का चक्र समाप्त नहीं होता।

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण ।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥ ५२ ॥

आत्मा के द्वारा ही मोक्ष मिलता है। इसलिए उसके प्रति मन, वचन, काय से श्रद्धा करना चाहिए। कम से कम उसे प्रयत्नपूर्वक जानना तो चाहिए।

वालग्गकोडिमेत्तं परिग्गहगहणं ण होइ साहूणं ।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्काठाणम्मि ॥ ५३ ॥

मुनिजन तो बाल के अग्रभाग के बराबर भी परिग्रह नहीं पालते। आहार लेते वक्त उनके हाथ ही आहार ग्रहण करने के उनके पात्र होते हैं। अन्न भी दूसरे का दिया होता है और वह भी वे एक बार एक ही स्थान पर ग्रहण करते हैं।

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिहदि हत्थेसु ।
जइ लेइ अप्पबहुयं तदो पुण जादि णिग्गोदं ॥ ५४ ॥

मुनि तो यथाजात रूप (शिशु की तरह जैसे जन्म लेते हैं वैसे) होते हैं। तिल का तुष मात्र आहार भी अपने हाथ से लेकर ग्रहण नहीं करते। यदि कम या ज़्यादा अपने हाथ से लेते हैं तो उन्हें निगोद में जाना पड़ता है।

जस्स परिंग्गहगहणं अप्पं बहुदं य होदि लिंगस्स ।
सो गरहिउ जिणवयणे परिग्गहरहिओ णिरायारो ॥ ५५ ॥

जो मुनि कम या ज़्यादा परिग्रह से ग्रस्त है वह निन्दनीय है। जिन शासन के मतानुसार अनागार (मुनि) को तो सर्वथा परिग्रह रहित होना चाहिए।

पंचमहव्वयजुत्तो तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होदि ।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य ॥ ५६ ॥

जो मुनि पाँच महाव्रतों और तीन गुप्तियों से सम्पन्न हो, संयमवान, निर्ग्रन्थ तथा मोक्ष मार्ग का विश्वासी हो वही वन्दनीय होता है।

दुइयं च उत्त लिंग उक्किट्ठं अवरसावयाणं च ।
भिक्खं भमेइ पत्ते समिदीभासेण मोणेण ॥ ५७ ॥

दूसरा वेश (ग्यारह प्रतिमाधारी) उत्कृष्ट अगृही श्रावक का होता है। वह ईर्या समिति के साथ मौन धारण किए हुए करभोजी आहार के लिए भ्रमण पर निकलता है।

लिंगं इत्थीण हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि ।
अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेदि ॥ ५८ ॥

तीसरा वेश आर्यिका और क्षुल्लिका का होता है। वे दिन में एक बार भोजन करती हैं और अगर आर्यिका होती हैं तो केवल एक वस्त्र धारण करके भोजन करती हैं।

ण वि सिज्झदि वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो ।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥ ५९ ॥

जिन शासन का मत है कि वस्त्रधारी को, भले ही वह तीर्थंकर हो, मोक्ष नहीं मिलता। नग्नत्व ही मोक्ष का मार्ग है। शेष सभी उन्मार्ग हैं।

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु ।
भणिदो सुहुमो काओ तासिं कह होदि पव्वज्जा ॥ ६० ॥

स्त्रियों की योनि, स्तनों के मध्यदेश, नाभि और बाहुमूल (कांखों) में दृष्टिअगोचर सूक्ष्मकाय जीवाणु कहे गए हैं। इसलिए स्त्रियों की (महाव्रत रूप) दीक्षा कैसे हो सकती है ?

जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सावि संजुत्ता ।
घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण पव्वया भणिदा ॥ ६१ ॥

लेकिन यदि स्त्री सम्यग्दर्शन से निर्मल है, कठोर तपश्चरण कर चुकी है तो वह मोक्ष के मार्ग में है। उसे पापयुक्त नहीं कहा जा सकता।

चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तधा सहावेण ।
विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु ण संकया झाणा ॥ ६२ ॥

स्त्रियों के चित्त में शुद्धता नहीं होती, स्वभाव में शिथिलता होती है, मासिक स्राव होता है। इसलिए वे निःशंक ध्यान नहीं कर सकतीं।

गाहेण अप्पगाहा समुद्दसलिले सचेलअत्थेण।
इच्छा जाहु णियत्ता ताह णियत्ताइं सव्वदुक्खाइं ॥ ६३ ॥

अपना वस्त्र धोने के लिए जैसे समुद्र से थोड़ा ही जल ग्रहण किया जाता है वैसे ही जो मुनि ग्रहण करने योग्य आहारादि भी अल्प ही ग्रहण करता है वह इच्छाओं से और फलस्वरूप दुःखों से निवृत्त हो जाता है।

चारित्तपाहुड
(चारित्रप्राभृतम्)

सव्वण्हु सव्वदंसी णिम्मोहा वीयराय परमेट्ठी ।
वंदित्तु तिजगबंदा अरहंता भव्वजीवेहिं ॥ ६४ ॥

णाणं दंसण सम्मं चारित्तं सोहिकारणं तेसिं ।
मोक्खाराहणहेउं चारित्तं पाहुड वोच्छे ॥ ६५ ॥

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, मोहमुक्त, वीतराग और भव्य जीवों द्वारा सदैव वन्दित अरिहन्त परमेष्ठी की वन्दना करके मैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को शुद्ध करने वाले चारित्रप्राभृत का विवेचन करता हूँ। यह चारित्रप्राभृत मोक्ष का कारण है।

जं जाणइ तं णाणं जं पेच्छइ तं य दंसणं भणिदं ।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होदि चारित्तं ॥ ६६ ॥

हम जो जानते हैं वह ज्ञान है। जो देखते हैं वह दर्शन है। ज्ञान और दर्शन के समायोग से जो घटित होता है, हमारे भीतर चरितार्थ होता है वह चारित्र है।

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया ।
तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविह चारित्तं ॥ ६७ ॥

ज्ञान, दर्शन और चारित्र जीव (आत्मा) के अक्षय और अनन्त भाव हैं। इनके शोधन के लिए जिनेन्द्र भगवान् ने चारित्र को दो प्रकार का कहा है।

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ।
विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि ॥ ६८ ॥

पहला प्रकार तो जिनेन्द्र भगवान् के ज्ञान, दर्शन से शुद्ध किया गया सम्यक्त्व का आचरण है और दूसरा प्रकार संयम का वैसा आचरण है जैसा जिनेन्द्र भगवान् ने आगम में कहा है।

एवं चिय णादूण य सव्वे मिच्छत्तदोस संकाइ ।
परिहर सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥ ६९ ॥

इस प्रकार (पूर्वोक्त प्रकार) से सम्यक्त्व को जानना चाहिए और उसे मलिन करने वाले शंका आदि मिथ्यात्व जनित तमाम दोषों को मन, वचन,काय से छोड़ देना चाहिए।

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य ।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥ ७० ॥

सम्यक्त्व यानी सम्यग्दर्शन के आठ अंग है- निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़ दृष्टि, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाएं ।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ॥ ७१ ॥

जिनेन्द्र भगवान् के प्रति ऐसी श्रद्धा का होना जो निःशंकित आदि गुणों से निर्मल है और ज्ञान के साथ आचरण में उतरी है सम्यक्त्वाचरण चारित्र है। यह मोक्ष प्राप्ति का साधन और प्रमुख सम्यग्दर्शन है।

सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जदि व सुपसिद्धा ।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं ॥ ७२ ॥

सम्यक्त्व के आचरण से शुद्ध और संयम के आचरण में ऊँचाई पर पहुँचे हुए अमूढ़ दृष्टि ज्ञानियों को निर्वाण की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है।

सम्मत्तचरणभट्ठा संजमचरणं चरंति जे वि णरा ।
अण्णाणणाणमूढा तह वि ण पावंति णिव्वाणं ॥ ७३ ॥

सम्यक्त्व से रहित जो व्यक्ति सिर्फ़ संयम का आचरण करते हैं वे अज्ञानी और मूढ़ दृष्टि हैं। उन्हें निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती।

वच्छल्लं विणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए ।
मग्गगुणसंसणाए अवगूहण रक्खणाए य ॥ ७४ ॥

एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जबेहिं भावेहिं ।
जीवो आराहंतो जिणसम्मत्तं अमोहेण ॥ ७५ ॥

मोह से मुक्त हुआ व्यक्ति अगर जिनेन्द्र भगवान् के प्रति श्रद्धा रखता हुआ आराधना में तल्लीन रहता है और सरल परिणामों कें साथ वात्सल्य, विनय, अनुकम्पा, सुपात्र को दान देने की दक्षता, मोक्षमार्ग के प्रति प्रशंसाभाव, उपगूहन और रक्षण जैसे लक्षणों से युक्त है तो वह सम्यग्दृष्टि है।

उच्छाहभावणासंपसंससेवा कदंसणे सद्धा ।
अण्णाणमोहमग्गे कुव्वंतो जहदि जिणसम्मं ॥ ७६ ॥

अज्ञान तथा मोहकर्म के मार्ग कुदर्शन के प्रति श्रद्धा, उत्साह, प्रशंसा और सेवाभाव रखने वाला व्यक्ति सम्यग्दर्शन से वंचित हो जाता है।

उच्छाहभावणासंपसंससेवा सुदंसणे सद्धा ।
ण जहदि जिणसम्मत्तं कुव्वंतो माणमग्गेण ॥ ७७ ॥

व्यक्ति अगर सुदर्शन के प्रति ज्ञानपूर्वक उत्साह, प्रशंसा तथा सेवाभाव रखनेवाला हो तो जैनमत के प्रति उसका सम्यग्दर्शन अक्षुण्ण बना रहता है।

अण्णाणं मिच्छत्तं वज्जह णाणे विसुद्धसम्मत्ते ।
अह मोहं सारंभं परिहर धम्मे अहिंसाए ॥ ७८ ॥

व्यक्ति को चाहिए कि वह ज्ञान, सम्यक्त्व और अहिंसा धर्म प्राप्त हो जाने पर फिर कभी अज्ञान, मिथ्यात्व और आरम्भ से परिपूर्ण मोह के चक्कर में न पड़े।

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसंजमे भावे ।
होदि सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते ॥ ७९ ॥

परिग्रह से मुक्त दीक्षा, श्रेष्ठ तप और संयमभाव में ही व्यक्ति को प्रवर्तित होना चाहिए ताकि वह मोहरहित वीतरागता और मोहहीनता में रह सके तथा निर्मल शुक्ल ध्यान में अवस्थित हो सके।

मिच्छादंसणमग्गे मलिणे अण्णाणमोहदोसेहिं ।
वज्झंति मूढजीवा मिच्छत्ताबुद्धिउदएण ॥ ८० ॥

मूढ़ व्यक्ति मिथ्यात्व और अबुद्धि के उदय के कारण अज्ञान और मिथ्यात्व से मलिन हुए मिथ्या दर्शन के मार्ग पर चलते हैं।

सम्मद्दंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया ।
सम्मेथ स सद्दहदि य परिहरदि चरित्तजे दोसे ॥ ८१ ॥

आत्मा सम्यग्दर्शन द्वारा वस्तु को देखती है। सम्यग्ज्ञान द्वारा उसे जानती है। सम्यक्त्व द्वारा उस पर श्रद्धान करती है। इस प्रकार देखने, जानने और श्रद्धा करने से वह चारित्रगत दोषों का परिहार करती है।

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स ।
णियुगणमाराहंतो अचिरेण य कम्म परिहरइ ॥ ८२ ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों भाव मोह रहित जीव के होते हैं। ऐसा व्यक्ति अपने आत्मस्वरूप की आराधना करता हुआ शीघ्र ही कर्मों का नाश करने में समर्थ होता है।

संखिज्जमसंखिज्जगुणं च संसारिमेरूमत्तां णं ।
सम्मत्तमणुचरंता करेंति दुक्खक्खयं धीरा ॥ ८३ ॥

सम्यक्त्व के मार्ग पर चलते हुए धैर्यवान व्यक्ति सांसारिक अस्तित्व के कारण स्वरूप संख्यात गुणा, असंख्यात गुणा कर्मों का और उनसे उपजे दुख का क्षय करते हैं।

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं ।
सायारं सग्गथे परिग्गहा रहिय खलु णिरायारं ॥८४ ॥

संयम का आचरण दो प्रकार का है- सागार और अनागार। सागार संयम परिग्रहयुक्त होने के कारण श्रावकों का और अनागार संयम परिग्रहरहित होने के कारण मुनियों का विषय है।

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य ।
बंभारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥ ८५ ॥

सागार संयमाचरण के तहत देशविरत के ग्यारह प्रकार हैं-दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, ब्रह्मचर्य और सचित्त त्याग, रात्रि भोजन त्याग, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग तथा उद्दिष्ट त्याग। (दूसरे शब्दों में ये श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं हैं)

पंचेव णुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि ।
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं य सायारं ॥ ८६ ॥

सागार (श्रावक) के संयमाचरण में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत होते हैं।

थूले तसकायवहे थूले मोषे अदत्तथूले य ।
परिहारो परमहिला परिग्गहारंभपरिमाणं ॥ ८७ ॥

स्थूल हिंसा यानी त्रस जीवों के वध, स्थूल असत्य, स्थूल परद्रव्य हरण और परस्त्री इन चार से विरत होना तथा आरम्भ-परिग्रह का परिमाण बांधना इस प्रकार ये पाँच अणुव्रत हैं।

दिसिविदिसिमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं ।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥ ८८ ॥

दिशा, विदिशा में गमन का परिमाण निश्चित रखना, अनर्थदण्ड की वर्जना और भोगोपभोग का परिमाण बाँधना ये तीन गुणव्रत हैं।

सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं ।
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥ ८९ ॥

सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिपूजा और सल्लेखना ये चार क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ शिक्षाव्रत हैं।

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं ।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे ॥ ९० ॥

इस प्रकार सागार (श्रावक) धर्म के संयम आचरण का उल्लेख करने के बाद अब मैं अनागार यानी मुनिधर्म के निर्मल संयम आचरण का वर्णन करता हूँ।

पंचेंदियसंवरणं पंच वया पंचविंसकिरियासु ।
पंच समिदि तय गुत्ती संजमचरणं णिरायारं ॥ ९१ ॥

अनागार (मुनि) के संयम आचरण के अंग हैं-पंचेन्द्रियों का संवर (संकोचन), पच्चीस क्रियाओं के सद्भावपूर्वक पाँच व्रत, पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ।

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य ।
ण करेदि रायदोसे पंचेंदियसंवरो भणिओ ॥ ९२ ॥

असुन्दर और सुन्दर तथा सजीव और अजीव किसी भी द्रव्य के प्रति राग द्वेष न रखना पंचेन्द्रिय संवर कहलाता है।

हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरइ अदत्तविरई य ।
तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरइ य ॥ ९३ ॥

हिंसा से विरति, यानी अहिंसा, असत्य से विरति, यानी सत्य, अदत्त से विरति यानी अचौर्य, अब्रह्मचर्य से विरति और परिग्रह से विरति ये पाँच महाव्रत हैं।

साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं ।
जं च महल्लाणि तदो महव्वया इत्तहे याइं ॥ ९४ ॥

इन्हें महाव्रत कहने का कारण यह है कि अतीत में महापुरुषों ने इनका आचरण किया, वर्तमान में भी ये महापुरुषों के आचरण में हैं और अपने आप में भी ये महान हैं।

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिक्खेवो ।
अवलोयभोयणाए अहिंसाए भावणा होंति ॥ ९५ ॥

अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाएं हैं-वचन गुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्या समिति, कमण्डलु आदि के ग्रहण के रूप में आदान निक्षेपण समिति और देखकर विधिपूर्वक आहार ग्रहण करना यानी एषणा समिति।

कोहभयहासलोहा मोहा विवरीयभावणा चेव ।
विदियस्स भावणाएं ए पंचेव य तहा होंति ॥ ९६ ॥

सत्य महाव्रत की पाँच भावनाएं हैं-क्रोध, भय, हास्य, लोभ एवं मोह से उलटी भावनाएं अर्थात् अक्रोध, अभय, अहास्य, अलोभ और अमोह।

सुण्णायारणिवासो विमोचियावास जं परोधं च ।
एसणसुद्धिसउत्तं साहम्मीसंविसंवादो ॥ ९७ ॥

अचौर्य महाव्रत की पाँच भावनाएं हैं- शून्य आगार (गुफा, तरुकोटर आदि) में निवास, त्याग दिए गए मकान, गांव आदि में रहना, दूसरों के लिए कोई रुकावट न बनना, एषणा शुद्धि (शुद्ध आहार लेना) और साधर्मी के साथ विसंवाद नहीं करना।

महिलालोयणपुव्वरइसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं ।
पुट्ठियरसेहिं विरओ भावण पंचावि तुरियम्मि ॥ ९८ ॥

ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनाएं हैं-महिलाओं को रागपूर्वक देखने, पूर्व भोगों को याद करने, स्त्रियों के समीपतर वसतिका में ठहरने, स्त्रीराग की कथा करने और पौष्टिक रसों का सेवन करने से विरत होना अर्थात् इन पाँचों से विरत रहना।

अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्दपरिसरसरूवगंधेसु ।
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति ॥ ९९ ॥

अपरिग्रह महाव्रत की भी पाँच भावनाएं हैं- स्पर्श, रस, रूप, गन्ध और शब्द के कारण सुन्दर-असुन्दर में कोई राग-द्वेष न रखना।

इरिया भासा एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो ।
संजमसोहिणिमित्तं खंति जिणा पंच समिदीओ ॥ १०० ॥

संयम आचरण की शुद्धि के लिए जिनेन्द्र भगवान् ने पाँच समितियों का कथन किया है-ईर्या (चलते समय चार हाथ पृथ्वी देखकर चलना), भाषा (हितमित वचन बोलना), एषणा (शुद्ध आहार लेना) आदान (धर्म के उपकरणों को यत्नपूर्वक उठाकर लेना) और निक्षेपण (पुस्तक, कमण्डलु, आदि को सावधानी से रखना)।

भव्वजबाहेणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं ।
णाणं णाणसरूवं अप्पाणं तं वियाणेहि ॥१०१ ॥

भव्य जनों के उद्बोधन के लिए जिनेन्द्र भगवान् के जिनमार्ग में ज्ञान और ज्ञान स्वरूप आत्मा के सम्बन्ध में जैसा कहा है वैसा ही जानना चाहिए।

जीवाजीवविभत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी ।
रायादिदोसरहिओ जिणसासणे मोक्खमग्गोत्ति ॥ १०२ ॥

जिन शासन में यही मोक्ष का मार्ग है कि आप जीव-अजीव के भेद को जानने वाले सम्यग्ज्ञानी हों और रागद्वेष से रहित रहें।

दंसणणाणचरित्तं तिण्णि वि जाणेह परमसद्धाए ।
जं जाणिऊण जोई अइरेण लहंति णिव्वाणं ॥ १०३ ॥

दर्शन, ज्ञान और चारित्र को श्रद्धापूर्वक जानना चाहिए। इसे जानकर ही योगीजन शीघ्र निर्वाण प्राप्त करते हैं।

पाऊण णाणसलिलं णिम्मलसुविसुद्धभावसंजुत्ता।
होंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा॥ १०४॥

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा भाषित ज्ञान का जल पाकर जो व्यक्ति निर्मल भावों से भर उठते हैं वे तीन लोक के चूड़ामणि और मोक्षमंदिर में रहने वाले सिद्ध परमेष्ठी बनते हैं।

णाणुगुणेहिं विहीणा ण लहंते ते सुइच्छियं लाहं।
इय णाउ गुणदोसं तं सण्णाणं वियाणेहि॥ १०५॥

ज्ञान गुण के बिना व्यक्ति को अपना वांछित लाभ नहीं मिलता। इसलिए इस विषय में गुण दोष समझकर उसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो॥ १०६॥

जो व्यक्ति सम्यग्ज्ञानी है और सम्यक् चारित्र का भी धनी है वह अपनी आत्मा में कभी परपदार्थ की इच्छा नहीं करता। उसे असन्दिग्ध रूप से शीघ्र ही अनुपम सुख की प्राप्ति होती है।

एवं सखेवेण य भणिदं णाणेण वीयराएण।
सम्मत्तसंजमासयदुण्हं पि उदेसियं चरणं॥ १०७॥

इस प्रकार वीतराग भगवान् ने संक्षेप में सम्यग्ज्ञान को कहकर सम्यग्दर्शन और संयम के आश्रयभूत चारित्र को दो प्रकार (सम्यक्त्वाचरण तथा संयमाचरण) से प्रतिपादित किया है।

भावेह भावसुद्धं फुडु रइयं चरणपाहुड चेव।
लहु चउगइ चइऊणं अइरेण पुणब्भवा होदि॥ १०८॥

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि मैंने भावनाओं से शुद्ध और बहुत सुलझे हुए रूप में चारित्र पाहुड (चारित्र प्राभृत) की रचना की है। आप पाठकगण इसे बार बार अपने भावों में लाएं ताकि आपको शीघ्र ही मोक्ष मिल सके और आप चार गतियों में होने वाले पुनर्जन्म से मुक्त हो सकें।

बोहिपाहुड
(बोधप्राभृतम्)

बहुसत्थअत्थजाणे संजमसम्मत्तसुद्धतवयरणे।
वंदित्ता आयरिए कसायमलवज्जिदे सुद्धे॥ १०९॥

सयलजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
वोच्छामि समासेण छक्कायसुहंकरं सुणह॥ ११०॥

जिनेन्द्र भगवान् ने जिनमत के विषय में जो कुछ कहा है उसे मैं कुन्दकुन्द अनेकानेक शास्त्रों के अर्थज्ञाता, संयम एवं सम्यक्त्व के धनी, परम तपस्वी और कषायों से मुक्त निर्मल आचार्यों की वन्दना करके संक्षेप में कहता हूँ। हे पाठको षट्काय जीवों को सुख देने वाले इस विवेचन को कृपया पढ़ें।

आयदणं चेदिहरं जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंबं।
भणियं सुवीयरायं जिणमुद्दा णाणमादत्थं॥ १११॥

अरहंतेण सुदिट्ठं जं देवं तित्थमिह य अरहंतं।
पावज्जगुणविसुद्धा इय णायव्वा जहाकमसो॥ ११२॥

इस बोध पाहुड में वीतराग भगवान् द्वारा किए गए प्रतिपादन के अनुसार निम्नांकित विषयों का क्रमशः वर्णन है-१. आयतन, २. चैत्यगृह, ३. जिन प्रतिमा, ४. दर्शन, ५. वीतराग जिनबिम्ब, ६. राग रहित जिनमुद्रा और ७. आत्मार्थ ज्ञान।
इनके अलावा अरिहन्तों द्वारा प्रतिपादित ८ देव, ९ तीर्थ, १० अरिहन्त और ११ गुणों से विशुद्ध हुई प्रव्रज्या का भी वर्णन इसमें है।

मणवयणकायदव्वा आसत्ता जस्स इन्दिया विसया।
आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजयं रूवं ॥ ११३ ॥

मन, वचन, काय रूपी द्रव्य और इन्द्रियों के सभी विषय जिनके अधीन होते हैं वे जिनमार्ग के संयमी मुनि आयतन कहलाते हैं।

मय राय दोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पंचमहव्वयधारा आयदणं महरिसी भणियं ॥ ११४॥

जो राग, द्वेष, मद, मोह, क्रोध, लोभ आदि को अपने वश में रखते हैं और पाँच महाव्रतों को धारण करते हैं वे महामुनि आयतन कहलाते हैं।

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स।
सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं ॥ ११५ ॥

जो मुनि के वास्तविक अर्थ में मुनित्व को उपलबध कर चुके हैं, विशुद्ध ध्यान और केवलज्ञान से सम्पन्न हैं वे ही श्रेष्ठ मुनि सिद्धायतन हैं।

बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं चेदयाइं अण्णं च।
पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं ॥ ११६ ॥

जो आत्मस्वरूप को जानता हो, अन्य सभी जीवों को भी चेतना स्वरूप समझता हो, पाँच महाव्रतों से शुद्ध हो और ज्ञानमय हो वही मुनि चैत्यगृह है।

चेइय बंधं मोक्खं दुक्खं च अप्पयंतस्स।
चेइहरं जिणमग्गे छक्कायहियंकरं भणियं ॥ ११७ ॥

जिसकी आत्मा में बन्धमोक्ष, सुख दुःख होता हो, जो जिनशासन के अनुसार षट्काय जीवों का हित करने वाला हो वह (मुनि) चैत्यगृह है।

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा॥ ११८॥

दर्शन और ज्ञान के कारण जिसका चारित्र निर्मल है, जिसके लिए आत्मा स्व और देह पर है तथा जो निर्ग्रन्थ वीतराग है वह जिनशासन के अनुसार प्रतिमा है।

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।
सा होई वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा॥ ११९॥

जिसका आचरण अत्यन्त शुद्ध हो और शुद्ध सम्यक्त्व को जानने, देखने में समर्थ हो वह परिग्रहों से मुक्त और संयमी मुनि प्रतिमा है। वह वन्दनीय है।

दंसणअणंतणाणं अणंतवीरिय अणंतसुक्खा य।
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं॥ १२०॥

णिरूवममचलमखोहा णिम्मिविया जंगमेण रूवेण।
सिद्ध ट्ठाणम्मि ठिया वोसर पडिमा धुवा सिद्धा॥ १२१॥

जो अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख से युक्त है, शाश्वत सुख का धनी है, देहरहित है, आठ प्रकार के कर्मों के बन्धन से परे है, अनुपम है, अचल और क्षोभरहित है, जंगम रूप से निर्मित है और सिद्ध स्थान में कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित है वह ध्रुव सिद्ध प्रतिमा (सिद्ध भगवान्) है।

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च।
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं॥ १२२॥

सम्यग्दर्शन, संयम, सुधर्म, निर्ग्रन्थता (परिग्रह राहित्य) और ज्ञान से सम्पन्न मोक्षमार्ग को दिखाने वाला जिनमत में दर्शन कहलाता है।

जह फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं स घियमयं चावि।
तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्थं॥ १२३॥

जिस प्रकार फूल में गन्ध और दूध में घी होता है उसी प्रकार दर्शन ज्ञानमय होता है। मुनि तथा उत्कृष्ट श्रावक, आर्यिका उसके बाह्य स्वरूप हैं।

जिणबिंबं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च।
जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा॥ १२४॥

जो (आचार्य) ज्ञानमय, संयम से शुद्ध और श्रेष्ठ वीतराग होता है तथा कर्मक्षय करने वाली शुद्ध शिक्षा दीक्षा देता है वह जिनबिम्ब है।

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं।
जस्स य दंसण णाणं अत्थि धुवं चेयणाभावो॥ १२५॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए जिनबिम्ब को प्रणाम करना चाहिए, उसकी पूजा, विनय और वात्सल्य करना चाहिए।

तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेद सुद्धसम्मत्तं।
अरहन्तमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य॥ १२६॥

अरिहन्त की मुद्रा तप, व्रत तथा गुणों से शुद्ध होती है। वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के आधार पर यथार्थ को देखने, जानने में समर्थ होती है और शिक्षा दीक्षा देने वाली होती है।

दढसंजममुद्दाए इन्दियमुद्दा कसायदढमुद्दा।
मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया॥ १२७॥

इन्द्रिय विषयों के प्रति दृढ़ संयम मुद्रा, कषायों के प्रति दृढ़ मुद्रा और ज्ञान मुद्रा (से युक्त मुनि) ही दरअसल जिनमुद्रा है।

संजमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स ।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ॥ १२८ ॥

संयम से युक्त और श्रेष्ठ ध्यान के योग्य मोक्षमार्ग का लक्ष्य ज्ञान से ही प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

जह ण वि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्स वेज्झयविहीणो ।
तह ण वि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥ १२९ ॥

जैसे धनुष बाण के बिना लक्ष्यवेध नहीं होता वैसे ही ज्ञान के बिना मोक्षमार्ग के लक्ष्य को देखा/ पाया नहीं जा सकता।

णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो ।
णाणेण लहदि लक्खे लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥ १३० ॥

ज्ञान तो व्यक्ति को ही प्राप्त होता है लेकिन वह उस श्रेष्ठ व्यक्ति को प्राप्त होता है जो विनय से युक्त होता है। ज्ञान से ही मोक्षमार्ग का ध्यान करते हुए (आत्मस्वरूप रूपी) लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

मइधणुहं जस्स थिरं सुदगुण वाणा सुअत्थि रयणत्तं ।
परमत्थबद्धलक्खो णवि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स ॥ १३१ ॥

जिसके पास मति ज्ञान रूपी ऐसा स्थिर धनुष है जिसकी प्रत्यंचा श्रुत ज्ञान की और श्रेष्ठ बाण रत्नत्रय के हैं तथा जिसने परमार्थ को लक्ष्य बना रखा है उसका (उस मुनि का) (मोक्ष मार्ग / परमार्थ का) निशाना कभी चूकता नहीं।

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च ।
तो दइ जस्स अत्थि हु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा ॥ १३२ ॥

देव वह है जो भरपूर अर्थ, धर्म, काम, ज्ञान (मोक्ष का कारण) आदि देता है। जिसके पास जो है वही तो वह देगा। जिसके पास धर्म एवं दीक्षा है वह धर्म और दीक्षा देगा।

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता ।
देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं ॥ १३३ ॥

दया से निर्मल धर्म, तमाम परिग्रहों से रहित प्रव्रज्या और सभी मोहों को नष्ट कर चुके देव ही जीवों का उदय (उन्नति) करने वाले हैं।

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचेंदियसंजदे णिरावेक्खे ।
ण्हाएउ मुणी तित्थे, दिक्खासिक्खासुण्हाणेण ॥ १३४ ॥

व्रत और सम्यक्त्व से शुद्ध, पंचेन्द्रिय विषयों में संवर सहित यानी संयत, यश-सम्मान-लाभ आदि मामलों में तटस्थ (निरपेक्ष) ऐसे आत्मस्वरूप तीर्थ में मुनि को शिक्षा दीक्षा रूप स्नान करना चाहिए।

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं ।
तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि सतिभावेण ॥ १३५ ॥

जिनमत में निर्मल श्रेष्ठ धर्म (उत्तम क्षमा आदि), सम्यग्दर्शन, संयम, तप और ज्ञान ही तीर्थ हैं और ये भी तभी तीर्थ हैं जब हम शान्त भाव से बिना कषायों के इन्हें अपने जीवन में उतारें।

णामे ठवणे हि य संदव्वे भावे हि सगुणपज्जाया ।
चउणागदि संपदिमं भावा भावंति अरहंतं ॥ १३६ ॥

नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, स्वगुण, पर्याय, च्यवन, आगति और सम्पदा ये तमाम भाव अरिहन्त का परिचय देते हैं।

दंसण अणंतणाणे मोक्खो णट्ठट्ठकम्मबंधेण ।
णिरुवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होइ ॥ १३७ ॥

अरिहन्त अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान से सम्पन्न होते हैं। वे आठ कर्मबन्धनों को नष्ट कर लेने के कारण मोक्ष तथा अनुपम गुणों से भी सम्पन्न होते हैं। (मोक्ष की प्रमुख बाधा चार घाति कर्म हैं। इनका नष्ट होना सामान्य अर्थ में आठों कर्मों का नष्ट होना है।)

जरवाहिजम्ममरणं चदुगदिगमणं च पुण्णपावं च ।
हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥ १३८ ॥

अरिहन्त बुढ़ापे, रोग, जन्म-मरण, चारों गतियों में गमन (भटकाव), पुण्य-पाप तथा दोषों को उत्पन्न करने वाले कर्मों को नष्ट कर चुके होते हैं और केवल ज्ञानमय होते हैं।

गुणठाणमग्गणेहि य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहि ।
ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरहपुरिसस्स ॥ १३९ ॥

गुणस्थान, मार्गणास्थान, पर्याप्ति, प्राण तथा जीवस्थान इन पाँच प्रकारों से अरिहन्त की स्थापना करनी चाहिए।

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो ।
चउतीस अदिसयगुणा होंति हु तस्स अट्ठ पडिहारा ॥ १४० ॥

सयोग केवली अरिहन्त तेरहवें में गुण स्थान में होते हैं। उनके चौंतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य होते हैं।

गइ इंदियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य ।
संजम दंसण लेसा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥ १४१ ॥

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी तथा आहार ये चौदह मार्गणा हैं।

आहारो य सरीरो तह इंदियआणपाणभासा य ।
पज्जत्तिगुणसमिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरहो ॥ १४२ ॥

आहार, शरीर, इन्द्रिय, मन, आन प्राण और भाषा इन छह पर्याप्ति गुणों से अरिहन्त देव समृद्ध होते हैं।

पंच वि इंदियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दहपाणा ॥ १४३ ॥

पाँच इन्द्रिय प्राण, मन-वचन और काय के तीन बल, एक श्वासोच्छ्वास तथा एक आयु इन दस प्राणों से अरिहन्त की स्थापना है।

मणुयभवे पंचिंदिय जीवट्ठाणेसु होइ चदुद्दसमे ।
एदे गुणगणजुत्तो गुणमारूढो हवइ अरहो ॥ १४४ ॥

अरिहन्त मनुष्यभव में पंचेन्द्रिय और जीवस्थानों में चौदहवें स्थान में होते हैं। वे गुण समूह से युक्त हैं और गुणस्थानों में उनका स्थान चौदहवाँ है।

जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं ।
सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगंछा य दोसो य ॥ १४५ ॥

अरिहन्त की देह वृद्धावस्था, रोग, दुःख, आहार, नीहार, श्लेष्म, थूक, पसीना और दुर्गन्ध जैसे दोषों से रहित और निर्मल होती है।

दसपाणा पज्जत्ती अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया ।
गोखीरसंखधवलं मंसं रुहिरं च सव्वंगे ॥ १४६ ॥

अरिहन्त के दस प्राण, पूर्ण पर्याप्ति और एक हजार आठ लक्षण होते हैं। उनकी देह में दूध तथा शंख के समान धवल मांस और रक्त होता है।

एरिसगुणेहिं सव्वं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं ।
ओरालियं च कायं णायव्वं अरहपुरिसस्स ॥ १४७ ॥

इस प्रकार अरिहन्त की देह उपर्युक्त गुणों के कारण अतिशयमय तथा परिमल की गन्धमय होती है।

मयरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिओ य सुविसुद्धो ।
चित्तपरिणामरहिदो केवलभावे मुणेयव्वो ॥ १४८ ॥

अरिहन्त में मद, राग जैसे दोष नहीं होते। वे कषायों से मुक्त होते हैं। विशुद्ध होते हैं और मनोविकारों से परे होते हैं। दरअसल एक केवलज्ञान ही उनकी पहचान है।

सम्मद्दंसणि पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया ।
सम्मत्तगुणविसुद्धो भावो अरहस्स णायव्वो ॥ १४९ ॥

अरिहन्त सम्यग्दर्शन द्वारा सम्पूर्ण अस्तित्व को देखते हैं और सम्यग्ज्ञान द्वारा तमाम द्रव्य पर्यायों को जानते हैं। वे अपने सम्यक्त्व गुण के कारण पूर्णतः निर्मल होते हैं।

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा ।
गिरिगुह गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा ॥ १५० ॥

दीक्षा धारण किए हुए मुनि सूने घर, वृक्षमूल के कोटर, उद्यान, श्मशान भूमि, पर्वत की गुफा या उसकी चोटी, भयानक वन अथवा वस्तिका में ठहर सकते हैं।

सवसासत्तं तित्थं वचचइदालत्तयं च वुत्तेहिं ।
जिणभवणं अह वेज्झं जिणमग्गे जिणवरा विंति ॥ १५१॥

पंचमहव्वयजुत्ता पंचिंदियसंजया णिरावेक्खा ।
सज्झाझाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिइच्छन्ति ॥ १५२॥

स्वाधीन प्रदेश, तीर्थ, वच, चैत्य, आलय, जिनभवन आदि जिन स्थानों में जिनमतानुसार जिनवर का ध्यान करना सम्भव हो उन्हीं स्थानों को पंचमहाव्रतधारी, पाँचों इन्द्रियों का संयम रखने वाले, सर्वथा निरपेक्ष, स्वाध्याय और ध्यान में लीन श्रेष्ठ मुनि विशेष पसन्द करते हैं।

गिहगंथमोहमुक्का वावीसपरीसहाजि अकसाया ।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ १५३॥

जो व्यक्ति घर और परिग्रह के मोह से मुक्त हो सके, बाईस परिषहों को सह सके, जिसने कषायों को जीत लिया हो और जो पाप रूप आरम्भ से ख़ुद को बचा सके वही जिनदीक्षा का पात्र है।

धणधण्णवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइ ।
कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ १५४॥

दीक्षा में धन, धान्य, वस्त्र, स्वर्ण, शयन, आसन, छत्र आदि का दान करना कुदान है। दीक्षा तो इनसे रहित होती है।

सत्तूमित्ते य समा पसंसणिंदा अलद्धिलद्धिसमा ।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ १५५॥

दीक्षा में शत्रु-मित्र, निन्दा-प्रशंसा, अलाभ-लाभ और तृण-स्वर्ण में समभाव रखना होता है।

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा ।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥१५६॥

आहार देने वाला चाहे ग़रीब हो या अमीर, उसका घर चाहे बड़ा हो या मध्यम, प्रव्रज्या (दीक्षा) में सभी के प्रति निरपेक्ष भाव रहता है और सब जगह आहार लिया जा सकता है।

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा ।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ १५७॥

प्रव्रज्या परिग्रह, स्त्रीसंग, मानकषाय, अपेक्षाओं, द्वेष, ममत्व, अहंकार आदि से रहित होती है।

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा ।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ १५८॥

प्रव्रज्या में किसी द्रव्य विशेष के प्रति लगाव, लोभ, मोह, विकार, कलुष, भय और प्राप्ति की आशा नहीं होती।

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुय णिराउहा संता ।
परकियणिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ १५९॥

बच्चा जिस नग्न रूप में जन्म लेता है वही रूप/ वेश प्रव्रज्या में होता है, कायोत्सर्ग मुद्रा धारण करने से भुजाएं लम्बायमान रहती हैं, कोई हथियार पास में नहीं होता, शान्त भंगिमा होती है और दूसरों की बनाई हुई वस्तिका आदि में निवास करना होता है।

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसक्कारवज्जिया रूक्खा ।
मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ १६० ॥

कर्मक्षय, क्षमा और इन्द्रियनिग्रह से युक्त होना, शृंगारविहीन देह का रूखा होना और मद तथा राग आदि दोषों से रहित होना प्रव्रज्या के लक्षण हैं।

विवरीयमूढभावा पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता ।
सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ १६१ ॥

प्रव्रज्या में अज्ञान भाव नहीं रहता, मिथ्यात्व एवं आठ प्रकार के कर्म नष्ट रहते हैं और सम्यग्दर्शन के कारण भाव विशुद्धि बनी रहती है।

जिणमग्गे पव्वज्जा छहसंहणणेसु भणिय णिग्गंथा ।
भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया ॥ १६२ ॥

जिनमार्ग में छह प्रकार के संहननवाले जीवों में प्रव्रज्या सम्भव है। प्रव्रज्या तमाम परिग्रहों से रहित होती है। इसलिए भव्यजनों को चाहिए कि वे कर्मक्षय के लिए प्रव्रज्या का भावन करें।

तिलतुसमत्तणिमित्त समबाहिरग्गंदसंगहो णत्थि।
पव्वज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरिसीहिं ॥ १६३ ॥

प्रव्रज्या में तिल के तुष बराबर भी बाह्य परिग्रह नहीं होता। सर्वज्ञदेव जिनेन्द्र भगवान् ने प्रव्रज्या को इसी रूप में प्रतिपादित किया है।

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च अत्थइ ।
सिल कट्ठे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ ॥ १६४ ॥

प्रव्रज्या में उपसर्ग (देव, मनुष्य,तिर्यंच, अचेतन कृत उपद्रव) और परिषह (दैव कर्मयोग से घटित होने वाले बाईस परिषह) को सहन करना पड़ता है। सदैव निर्जन प्रदेश में रहना होता है और चट्टान, काष्ठ,भूतल पर ही सर्वत्र बैठना, सोना पड़ता है।

पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ
सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ १६५ ॥

प्रव्रज्या में पशु, महिला, नपुंसक और व्यभिचारी व्यक्ति की संगति से बचना होता है। विकथाएं (स्त्री, राजा, भोजन, चोर आदि की कथाएं) नहीं करनी होतीं। स्वाध्याय और ध्यान में ही लीन रहना होता है।

तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य ।
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ १६६ ॥

जिस प्रव्रज्या में तपस्या, पंचमहाव्रतों का परिपालन, विभिन्न गुण,संयम और सम्यक्त्व हो वह शुद्ध होती है। प्रव्रज्या में प्रव्रज्या के स्वयं के गुणों से शुद्धता आती है, बाह्य दिखावे से नहीं।

एवं आयत्तगुपज्जत्ता बहुविसुद्धसम्मत्ते ।
णिग्गंथे जिणमग्गे संखेवेणं जहाखादं ॥ १६७ ॥

इस प्रकार बाह्य तथा आभ्यन्तर परिग्रहों को व्यर्थ मानने वाले और विशुद्ध सम्यक्त्व को शिरोधार्य करने वाले जिन मार्ग में प्रव्रज्या के केन्द्र मुनियों के गुणों का संक्षेप में प्रतिपादन किया गया।

रुवत्थं सुद्धत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं ।
भव्वजणबोहणत्थं छक्कायहियंकरं उत्तं ॥ १६८॥

आभ्यन्तर में शुद्ध भावों से भरे हुए मोक्षमार्ग के बाह्य स्वरूप को जिनेन्द्र भगवान् ने जैसा कहा है, वैसा ही मैंने उसका विवेचन किया ताकि भव्य जीवों का उद्बोधन हो और षट्काय जीवों का हित हो सके।

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं ।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥ १६९ ॥

शब्द के रूप परिवर्तन से उत्पन्न भाषा सूत्रों में जिनेन्द्र भगवान् ने जो कुछ कहा है उसे भद्रबाहु ने वैसा ही ग्रहण किया और फिर उनके शिष्य (विशाखाचार्य) ने उसे उसी रूप में कहा।

बारसअंगवियाणं चदुद्दसपुव्वंगंविउलवित्थरणं ।
सुदणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भगवओ जयदु॥ १७० ॥

अन्तिम श्रुत केवली भ्रदबाहु द्वादश अंगों और चौदह पूर्वांगों के विपुल विस्तार के ज्ञाता हैं। वे सूत्रों का यथावत् अर्थ करते हैं /अथवा मेरे परम्परागत/प्रेरक गुरु हैं। उन पूज्य भगवान् भद्रबाहु को मैं कुन्दकुन्द नमन करता हूँ। उनकी जय हो।

भावपाहुड

(भावप्राभृतम्)

णमिऊण जिणवरिंदे णरसुरभवणिंदवंदिए सिद्धे ।
वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा ॥ १७१ ॥

तीर्थंकरों, सिद्धों तथा शेष (अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु) को, जो मनुष्यों, देवताओं तथा पाताललोक के देवों और इन सबके इन्द्रों द्वारा वन्दित हैं मैं सिर झुकाकर वन्दना करके भावपाहुड की रचना में प्रवृत्त होता हूँ।

भावो हि पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं ।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा वेंति ॥ १७२ ॥

भाव की सत्ता ही सर्वोपरि है। जिनेन्द्र भगवान् का कथन है कि बाह्य स्वरूप को परमार्थ नहीं समझना चाहिए।

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुतस्स ॥ १७३ ॥

भाव की विशुद्धि के लिए बाह्य परिग्रहों का परित्याग किया जाता है। लेकिन यदि आभ्यन्तर में राग आदि का परिग्रह बना रहता है तो बाह्य परिग्रहों के परित्याग से कुछ नहीं होगा।

भावरहिओ ण सिज्झदि जदि वि तवं चरदि कोडिकोडीओ ।
जम्मंतराइ बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ॥ १७४ ॥

व्यक्ति भले ही हाथों को लम्बा लटकाए हुए नग्न रहकर जन्मान्तरों तक कोटि कोटि तप करता रहे लेकिन अगर उसके आभ्यन्तर में भाव ही नहीं है तो उसे सिद्धि नहीं मिलेगी।

परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुंचेदि बाहिरे य जदि ।
बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणदि ॥ १७५ ॥

यदि व्यक्ति (मुनि बनकर) बाह्य परिग्रहों को छोड़ देता है लेकिन उसके भाव अशुद्ध बन रहते हैं तो ऐसे शुद्ध भाव से रहित व्यक्ति को सिर्फ़ बाह्य परिग्रह के त्याग से क्या मिलने वाला है?

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिदेण ।
पंथिय सिवपुरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण ॥ १७६ ॥

हे मोक्षमार्ग के पथिक, भाव को प्राथमिक मान। जिनेन्द्र भगवान् ने मोक्ष का यही मार्ग प्रयत्नपूर्वक बताया है। भावरहित स्वरूप से तुझे क्या लेना देना ?

भावरहिदेण सपुरिस अणादिकालं अणंतसंसारे ।
गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरणिग्गंथरूवाइं ॥१७७ ॥

हे सत्पुरुष, तूने भाव रहित रहते हुए इस अनादि काल और अनन्त संसार में बाह्य परिग्रहों को पता नहीं कितनी बार तो छोड़ा और कितनी बार ग्रहण किया। लेकिन तेरे हाथ कुछ भी तो नहीं आया।

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए ।
पत्तो सि तिव्वदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव ! ॥ १७८ ॥

हे जीव, तूने भयंकर नरकगति में, तिर्यंचगति में और कुदेव, कुमनुष्य गति में भारी दुःख भोगे हैं। अब तो जिनभावना अर्थात् शुद्ध, आत्मस्वरूप की भावना का भावन कर।

सत्तसु णरयावासे दारुणभीमाइं असहणीयाइं ।
भुत्ताइं सुइरकालं दुक्खाइं णिरंतरं सहिद ॥ १७९ ॥

हे जीव तू सात नरकों में भयानक, तीव्र और असहनीय दुःखों को दीर्घ काल तक निरन्तर भोगता और सहता रहा है।

खणणुत्तावणवालणवेयणविच्छेयणाणिरोहं च ।
पतो सि भावरहिदो तिरियगईए चिरं कालं ॥ १८० ॥

हे जीव, भावरहित होने के कारण तूने तिर्यंच गति में चिर काल तक खनन, उत्तापन, ज्वलन, वेदन, विच्छेदन, निरोधन आदि दुःखों को झेला है।

आगंतुक माणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि ।
दुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तो सि अणंतयं कालं ॥ १८१ ॥

हे जीव, मनुष्यगति में भी जन्म लेकर तू ने आकस्मिक (भूकम्प, बाढ़ आदि) मानसिक, सहज (जैसे जन्म) और शारीरिक ये चार प्रकार के दुःख पाए हैं।

सुरणिलयेसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं ।
संपत्तो सि महाजस दुक्खं सुहभावणारहिदो ॥ १८२ ॥

हे महान यशस्वी, शुभ भाव से रहित होने के कारण देवगति में भी तुझे देव अथवा अप्सरा के वियोग जैसा तीव्र मानसिक दुःख झेलना पड़ा है।

कंदप्पमाइयाओ पंच वि असुहादिभावणाई य ।
भाऊण दव्वलिंगी पहीणदेवो दिवे जाओ ॥ १८३ ॥

हे जीव, तू द्रव्यलिंगी मुनि होकर कन्दर्प आदि पाँच अशुभ भावनाओं से ग्रस्त रहा। फलस्वरूप स्वर्ग में तुझे प्रहीण देवता अर्थात् नीच देवता होकर उत्पन्न होना पड़ा।

पासत्थभावणादो अणाइकालं अणेयवाराओ ।
भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभावबीएहिं ॥ १८४ ॥

हे जीव, अनादिकाल से अनन्त बार पार्श्वस्थ भावना (मुनित्व को आजीविका का साधन बनाना) के कारण तुझे कुभावनाओं के बीजों से सदैव दुःख ही प्राप्त हुआ है।

देवाण गुण विहूई इड्ढी माहप्प बहुविहं दट्ठुं ।
होदूण हीणदेवो पत्तो बहु माणसं दुक्खं ॥ १८५ ॥

हे जीव, हीन देव के रूप में जन्म लेकर भी तू अन्य देवों के गुण, विभूति, ऐश्वर्य और बहुविध माहात्म्य को देखकर अतिशय मानसिक दुःख झेलता रहा।

चउविहविकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो ।
होदूण कुदेवत्तं पत्तो सि अणेयवाराओ ॥ १८६ ॥

हे जीव, तू चार प्रकार की विकथाओं में आसक्त रहा, मद में चूर रहा और अशुभ भावों को प्रकट करने के प्रयोजन से तूने अनेक बार कुदेव के रूप में जन्म लिया।

असुईबीहत्थेहि य कलिमलबहुलाहि गब्भवसहीहि ।
वसिओ सि चिरं कालं अणेयजणणीण मुणिपवर ॥ १८७ ॥

हे मुनिप्रवर, बार बार जन्म लेने से तू अनेक माताओं के अपवित्र, घिनौने और मलिन मल से भरे हुए गर्भ में बहुत समय तक रहा।

पीओ सि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं ।
अण्णाण्णाण महाजस सायरसलिलादु अहिययरं ॥ १८८ ॥

हे महायशस्वी, अनन्त जन्मान्तरों में जन्म लेकर तूने अन्य अन्य माताओं का जितना दूध पिया वह समुद्र के जल से भी ज्यादा है।

तुह मरणे दुक्खेण अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं ।
रुण्णाण णयणणीर सायरसलिलादु अहिययरं ॥ १८९ ॥

तेरी मृत्यु पर अन्य अन्य अनेक माताओं के रोने से जो अश्रुजल बहा वह भी समुद्र के जल से अधिक है।

भवसागरे अणंते छिण्णुज्झिय केसणहरणालट्ठी ।
पुंजेइ जदि को वि जए होदि य गिरिसमधिया रासी ॥ १९० ॥

इस अनन्त संसार सागर में विभिन्न जन्मों में तेरे जितने नाल, नख, अस्थि और केश कटे, टूटे हैं यदि कोई देवता उनका ढेर लगाए तो वह पहाड़ से भी ज़्यादा बड़ा होगा।

जलथलसिहिपदणंबरगिरसरिदरितरुवणाइ सव्वत्थ।
वसिओ सि चिरं कालं तिहुवणमज्झे अणप्पवसो ॥ १९१ ॥

अनात्म के अधीन होने के कारण तुझे तीन लोक में जल, थल, अग्नि, पवन, आकाश, पर्वत, नदी, पार्वत्य गुफा, वृक्ष,वन आदि तमाम जगहों में चिर काल तक रहना पड़ा।

गसियाइं पुग्गलाइं भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं ।
पत्तोसि तो ण तित्तिं पुणरूवं ताइं भुंजतो ॥ १९२ ॥

संसार के उदर में स्थित सभी पुद्गल स्कन्धों को तूने अपना भोज्य पदार्थ बनाया और बार बार उनका भोजन करते हुए भी तुझे तृप्ति नहीं मिली।

तिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाए पीडिएण तुमे ।
तो वि ण तण्हाछेओ जादो चिंतेह भवमहणं ॥ १९३ ॥

प्यास से परेशान होकर तूने तीन लोक के सम्पूर्ण जल को पिया। तब भी तेरी प्यास नहीं बुझी। इसलिए संसार (जन्ममरण के चक्र) से मुक्त होने की बात सोच।

गहिउज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं ।
ताणं णत्थि पमाणं अणंतभवसागरे धीर ॥ १९४ ॥

हे मुनिवर, हे धैर्यशाली, इस अनन्त संसार सागर में तूने जितनी देहों को धारण किया और छोड़ा उसकी कोई गिनती नहीं है।

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेणं ।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ ॥ १९५ ॥

हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं ।
रसविज्जजोयधारण अणयपसंगेहिं विविहेहिं ॥१९६ ॥

इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं ।
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पतो सि तं मित्त ॥ १९७ ॥

विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रघात, संक्लेश भाव, आहार और श्वासनिरोध से आयु क्षीण होती है। हे मित्र, तिर्यंच और मनुष्य गति में भी बहुत काल तक बहुत बार उत्पन्न होकर तुझे शीत, आग और जल से, पेड़ और पहाड़ पर चढ़कर गिरने से, शरीर भंग होने से, पारा आदि भोजन में आ जाने से और अनीतिकर कार्यों के संयोग से असमय मृत्यु का भी महान दुःख झेलना पड़ा।

छतीस तिण्णि सया छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि ।
अंतोमुहुत्तमज्झे पतो सि निगोयवासम्मि ॥ १९८ ॥

निगोद में वास करते हुए तो तुझे एक अन्तरमुहूर्त में छियासठ हज़ार तीन सौ छत्तीस बार मरना पड़ा।

वियलिंदए असीवी सट्ठी चालीसमेव जाणेह ।
पंचिंदिय चउवीसं खुद्दभवंतोमुहुत्तस्स ॥ १९९ ॥

इस अन्तरमुहूर्त के जीवन में दो इन्द्रियों के अस्सी, तीन इन्द्रियों के साठ, चार इन्द्रियों के चालीस और पाँच इन्द्रियों के चौबीस तो क्षुद्र जीवन होते हैं।

रयणत्ते सुअलद्धे एवं भमिदोसि दीहसंसारे ।
इय जिणवरेहिं भणिदं तं रयणत्तं समायरह ॥ २०० ॥

सम्यग्दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रय को प्राप्त नहीं करने के कारण ही तुझे इस दीर्घ संसार में परिभ्रमण करना पड़ा। इसलिए बेहतर हो कि अब तू जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे गए रत्नत्रय को अपने जीवन में उतारे।

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो ।
जाणदि तं सण्णाणं चरदिह चारित्त मग्गुत्ति ॥ २०१ ॥

आत्मा को आत्मा में लीन करने से जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है। उस आत्मा को जानना सम्यग्ज्ञान है और उसे आचरण में उतारना सम्यक् चारित्र है। इस प्रकार का यह मोक्षमार्ग है।

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओ सि ।
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव ! ॥ २०२ ॥

हे जीव, अनेक जन्मान्तरों में तू कुमरण की मौत मरा है। अब श्रेष्ठ मरणवाली ऐसी मौत की भावना कर जिससे जन्ममरण का चक्र ही नष्ट हो जाए।

सो णत्थि दव्वसवणो परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ ।
जत्थ ण जाओ ण मओ तियलोयपमाणिओ सव्वो ॥ २०३ ॥

तीन लोक के विस्तार में एक परमाणु बराबर भी ऐसा प्रदेश नहीं है जहाँ द्रव्य मुनि को जन्म मरण से न गुज़रना पड़ा हो।

कालमणंतं जीवो जम्मजरामरणपीडिओ दुक्खं ।
जिणलिंगेण वि पतो परंपराभावरहिएण ॥ २०४ ॥

द्रव्यलिंगी मुनि होने के बाद परम्परा से भी भावना में मुनित्व को उपलब्ध न करने के कारण जीव को अनन्त काल तक जन्म, जरा और मरण का दुःख उठाना पड़ा।

पडिदेससमयपुग्गलआउगपरिणामणामकालट्ठं ।
गहिउज्झियाइं बहुसो अणंतभवसायरे जीव ॥ २०५ ॥

जीव ने अनन्त भवसागर में लोकाकाश के सभी प्रदेशों, सभी समयों, सभी परिणामों, नामों और कालों में जितने भी पुद्गल स्कन्ध हैं उन सब को कितनी ही बार ग्रहण किया और छोड़ा है।

तेयाला तिण्णि सदा रज्जुणं लोयखेत्तपरिमाणं ।
मुत्तूणट्ठपदेसा जत्थ ण दुरुढुल्लिओ जीवो ॥ २०६ ॥

यह लोक तीन सौ तैंतालीस रज्जु परिमाण क्षेत्र है। इसमें से आठ प्रदेशों (मेरू के नीचे गोस्तनाकार आठ प्रदेश) को छोड़कर ऐसा कोई प्रदेश नहीं रहा जिसमें जीव जनमा और मरा न हो।

एक्केक्कंगुलिवाही छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं ।
अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिदा ॥ २०७ ॥

मनुष्यों की एक एक उँगली में छियानवे छियानवे रोग होते हैं। तब कहिए पूरे शरीर में कितने रोग कहे जाएं ?

ते रोया वि य सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे ।
एवं सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं ॥ २०८ ॥

हे महान यशस्वी, वे तमाम रोग तूने पूर्व भवों में परवश रहते हुए भोगे हैं। अधिक कहने से क्या ? क्या इसी प्रकार फिर उन्हें भोगना चाहेगा ?

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिसकिमिजाले ।
उयरे वसिओसि चिरं णवदसमासेहिं पत्तेहिं ॥ २०९ ॥

हे जीव, तुझे पित्त, आँत, मूत्र, फेफस (बिना मेद फूलने वाला रुधिर), कालिज्ज (कलेजा), रुधिर, खरिस (अपक्व मलयुक्त रुधिर, श्लेष्म) और कृमिजाल से वेष्टित उदर में (गर्भ में) नौ-दस माह तक रहना पड़ा।

दियसंगट्ठियमसणं आहारिय मायभुत्तमण्णंते ।
छद्दिखरिसाण मज्झे जठरे वसिओसि जणणीए ॥ २१० ॥

माँ के दाँतों से चबाए हुए, उन दाँतों में लगे हुए भोजन को, जो माँ के भोजन करने के बाद उदर में गया, ग्रहण करके तुझे माँ के पेट में रहना पड़ा। वहाँ वमन के अन्न और रुधिर मिले अपक्व मल के बीच तू रहा।

सिसुकाले य अण्णाणे असुईमज्झम्मि लोलिओ सि तुमं ।
असुई असिया बहुसो मुणिवर बालत्तपत्तेण ॥ २११ ॥

हे मुनिवर, शिशु की अज्ञान अवस्था में तू अपवित्रताओं में लेटा रहा। शिशुपने में बहुत बार अपवित्र वस्तुएं ही तेरे खाने में आईं।

मंसट्ठिसुक्कसोणियपित्तंतसवत्त कुणि मदुग्गंधं ।
खरिसवसापूय खिब्भिस भरियं चिंतेहि देहउडं ॥ २१२ ॥

और हे शुद्ध बुद्ध ज्ञानमय जीव, जरा अपनी देह के घट के बारे में सोच। माँस, हाड़, वीर्य, रक्त, पित्त और आँतें हाल ही मरे हुए व्यक्ति की तरह दुर्गन्ध देती हैं और पूरा घट खरिस (रुधिर मिला अपक्व मल), वसा (मेद),पूय (.खराब .खून) और कल्मष (गन्दगी) से भरा हुआ है।

भावविमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण ।
इय भाविदूण उज्झसु गंधं अब्भंतरं धीर ॥ २१३ ॥

जो व्यक्ति अपने राग द्वेष के भावों से मुक्त है वही वस्तुतः मुक्त है। कुटुम्ब और मित्र आदि से मुक्त होकर व्यक्ति मुक्त नहीं होता। इसलिए हे धीर मुनि, तुझे अपनी आभ्यन्तर वासनाओं से, राग द्वेष से मुक्त होना चाहिए।

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर !
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं ॥ २१४ ॥

भगवान् ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली से देह आदि का परिग्रह तो छूट गया था लेकिन उनका मन मान कषाय से कलुषित बना रहा। उन्होंने कुछ समय तक कायोत्सर्ग योग भी धारण किया।(परन्तु केवल ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। जब मान कषाय का कलुष उनकी आत्मा से धुल गया, तब जाकर उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हुई। इस प्रकार वे इस युग के सर्वप्रथम मोक्षगामी हुए।)

महुपिंगो णाम मुणी देहाहारादिचत्तवावारो ।
सवणत्तणं ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियणुय ॥ २१५ ॥

मधुपिंग मुनि ने तो देह के आहार आदि को भी छोड़ दिया था। लेकिन तप के फल की चाह से उन्हें भव्य जीवों द्वारा प्रणम्य भाव श्रमणत्व प्राप्त नहीं हुआ।

अण्णं च वसिट्ठमुणी पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण ।
सो णत्थि वासठाणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीवो ॥ २१६ ॥

दूसरे एक वासिष्ठ मुनि को भी तप के फल की चाह से दुःख ही प्राप्त हुआ। लोक में ऐसी कोई जगह नहीं है जहाँ इस जीव ने जन्ममरण के रूप में परिभ्रमण नहीं किया।

सो णत्थि तप्पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि ।
भावविरओ वि सवणो जत्थ णं दुरुदुल्लिओ जीव ॥ २१७ ॥

चौरासी लाख योनियों से परिपूर्ण इस संसार में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ इस जीव ने भाव से विरत होने के कारण, श्रमण (मुनि) होने के बावजूद परिभ्रमण नहीं किया हो।

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण ।
तम्हा कुणिज्ज भाव किं कीरइ दव्वलिंगेण ॥ २१८ ॥

भाव ही मुनि की पहचान है, द्रव्य (बाह्य तामझाम) नहीं। इसलिए मुनि के लिए भाव ही ग्राह्य होना चाहिए। उसके लिए द्रव्य द्वारा पहचान बनाना व्यर्थ है।

दंडयणयरं सयलं डहिओ अब्भंदरेण दोसेण ।
जिणलिंगेण वि बाहू पडिओ सो रउरवे णरए ॥ २१९ ॥

बाहू नामक मुनि द्रव्यमुनि था। यानी मुनि के रूप में उसकी पहचान बाह्य तामझाम में थी। इसलिए अपने आभ्यन्तर दोष से उसने सम्पूर्ण दण्डक नगर को जलाया। उसे रौरव नरक में जाना पड़ा।

अवरो वि दव्वसवणो दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो ।
दीवायणो त्ति णामो अणंतसंसारिओ जादो ॥ २२० ॥

बाहू मुनि की तरह एक द्वैपायन मुनि भी द्रव्य मुनि हुए। वे सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र से भ्रष्ट हुए। उन्हें अनन्त संसारी होना पड़ा। यानी वे अनन्त काल तक संसार में जन्म मरण से गुज़रते रहे।

भावसमणो य धीरो जुवईजणबेढिओ विसुद्धमुई ।
णामेण सिवकुमारो परीत्तसंसारिओ जादो ॥२२१॥

उक्त द्रव्यमुनियों के विपरीत धैर्य और विशुद्ध मति से सम्पन्न एक शिवसागर नाम के भावमुनि हुए। स्त्रियाँ उन्हें घेरे रहती थीं। फिर भी उन्हें संसार से मुक्ति मिली।

केवलिजिणपण्णत्तं एयादसअंग सयल सुयणाणं ।
पढिओ अभव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो ॥२२२॥

अभव्यसेन नाम के मुनि ने तो केवली भगवान् द्वारा प्रतिपादित पूर्ण श्रुतज्ञान के ग्यारह अंगों का अध्ययन किया था। फिर भी उनमें भाव मुनित्व की चेतना नहीं जागी।

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य ।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जादो ॥२२३॥

सभी जानते हैं कि शिवभूति नाम के मुनि तो सिर्फ़ तुष, माष जैसे शब्दों को ही रटने तक सीमित थे। शास्त्रों का अध्ययन तो दूर की बात है। लेकिन भावों की विशुद्धता ने उन्हें महानुभाव बनाया और केवल ज्ञान दिया।

भावेण होदि णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण ।
कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥२२४॥

असल नग्नता तो भाव से होती है। केवल बाह्य नग्नता से कुछ नहीं होता। भावसहित बाह्य नग्नता ही कर्म प्रकृति के समूह का नाश कर पाती है।

णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं ।
इय णाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ॥२२५॥

जिनेन्द्र भगवान् का कथन है कि भावरहित नग्नता कार्यकारी नहीं होती। इसलिए हे धैर्यवान मुनि, इस कथन को समझते हुए तुम्हें निरन्तर आत्मा का ही भावन करना चाहिए।

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचतो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥२२६॥

जो देह आदि के परिग्रहों तथा मानकषाय से रहित हो और आत्मा में ही लीन रहता हो वह भावलिंगी मुनि (भाव मुनि) है।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममतिमुवट्ठिदो ।
आलंबणं च मे आदा अक्सेसाइं वोसरे ॥२२७॥

भावलिंगी मुनि पर-द्रव्यों से ममत्व त्याग कर निर्ममत्व अंगीकार कर लेता है। वह सोचता है कि अब आत्मा ही मेरा अवलम्ब है। मैं शेष सभी कुछ छोड़ता हूँ।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंक्षणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥२२८॥

वह सोचता है, मेरे ज्ञान में, मेरे दर्शन में, मेरे चारित्र में, मेरे प्रत्याख्यान (भावी दोष निवारण), संवर (कर्म के आम्रव का निरोध) और योग (समाधि ध्यान) में भी आत्मा ही तो है।

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥२२९॥

वह सोचता है, एक ज्ञानदर्शन स्वरूप आत्मा ही मेरी है। शेष सभी भाव मुझसे बाह्य हैं, पर-द्रव्य हैं।

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविशुद्धणिम्मलं चेव ।
लहु चउगइ चइऊणं जदि इच्छह सासयं सुक्खं ॥२३०॥

हे मुनिजनो, यदि चार गति रूप संसार से शीघ्र ही छूटकर शाश्वत सुख की इच्छा है तो भाव में शुद्ध निर्मल और विशुद्ध आत्मा का भावन करो।

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो ।
सो जरमरणविणासं कुणदि फुडं लहइ णिव्वाणं ॥२३१॥

जो व्यक्ति शुद्ध स्वभाव से युक्त आत्मा के स्वभाव का भावन करता है वह बुढ़ापे और मौत का विनाश करने में समर्थ होता है और उसे असन्दिग्ध रूप से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

जीवो जिणपण्णत्तो णाणसहाओ य चेयणासहिओ ।
सो जीवो णायव्वो कम्मक्खयकरणणिम्मित्तो ॥२३२॥

जिनेन्द्र भगवान् ने आत्मा को ज्ञान स्वभावी और चेतना सम्पन्न बताया है। कर्मक्षय की निमित्त ऐसी आत्मा को ज़रूर जानना चाहिए।

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ ।
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा ॥२३३॥

जो व्यक्ति आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, उसका अभाव नहीं मानते वे देह से विलग होकर वचन अगोचर (अनिर्वचनीय) सिद्ध होते हैं।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठिसंठाणं ॥२३४॥

आत्मा रस, रूप, गन्ध, शब्द और गोचरता से परे है। चेतना गुण से सम्पन्न है। उसका कोई चिह्न और निर्धारित आकार-प्रकार नहीं है।

भावहि पंचपयारं णाणं अण्णाणणासणं सिग्धं ।
भावणभावियसहिओ दिवसिवसुहभायणो होदि ॥२३५॥

हे जीव, अज्ञान का नाश करने वाले पाँच प्रकार के ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल ज्ञान) का भावन शीघ्र और भावना के साथ करो ताकि तुम स्वर्ग, मोक्ष और सुख के भाजन बन सको।

पढिएण वि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिएण।
भावो कारणभूदो सायारणयारभूदाणं ॥२३६॥

भाव रहित पढ़ने, सुनने से कुछ भी हासिल नहीं होता। एक मात्र भाव ही श्रावकत्व और मुनित्व का आधार है।

दव्वेण सयल णग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया ।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥ २३७ ॥

बाह्य रूप में तो सभी प्राणी नग्न होते हैं। नारकी तथा तिर्यंच जीव और यथा अवसर अन्य जीव जैसे मनुष्य, भी नग्न होते हैं। लेकिन भाव से अशुद्ध होने के कारण इन्हें भावमुनित्व की प्राप्ति नहीं होती।

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमइ ।
णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं ॥ २३८॥

जीव यदि सम्यग्दर्शन (जिन भावना) से रहित है तो उसे नग्न रहने से कोई फल नहीं मिलेगा। उसे दुःख ही मिलेगा। वह संसार सागर में ही भ्रमण करता रहेगा। उसे बोधि (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप स्वानुभव) की प्राप्ति नहीं होगी।

अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण ।
पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ॥२३९॥

अगर स्वभाव में दूसरों के दोष देखने की, उनकी हँसी उड़ाने की, उनसे ईर्ष्या रखने की, उनसे मायाचार करने की अतिशयता हो तो ऐसा नग्नत्व सिर्फ़ पाप से मलिन और सिर्फ़ अपयश का पात्र होता है।

पयडहिं जिणवरलिंगं अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो ।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियइ ॥ २४० ॥

भाव में मलिनता हो तो जीव बाह्य परिग्रहों में फँसता रहता है। इसलिए आत्मा को शुद्ध आभ्यन्तर भावों से सम्पन्न रखते हुए ही द्रव्य मुनित्व को धारण करना चाहिए।

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य उच्छुफूल्लसमो ।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥२४१॥

जो मुनि धर्म में (स्वभाव में/दस लक्षण धर्म में) रमा हुआ नहीं है वह ईख के फूल के समान फल और गन्धगुण से रहित है। वह तो खाली नग्न रूप में नाच रहा है।

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा ।
ण लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ॥ २४२ ॥

जो मुनि राग और परिग्रह से ग्रस्त है और जिनभावना अर्थात शुद्ध आत्मभाव से रहित है वह तो सिर्फ़ द्रव्य मुनि है। उसे जिनशासन की समाधि (ध्यान) और बोधि (सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र-रूप मोक्षमार्ग) की प्राप्ति नहीं होती।

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं ।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥ २४३ ॥

मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर पहले भाव में, आभ्यन्तर में नग्नता आनी चाहिए। जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा है कि उसके बाद ही द्रव्यमुनित्व (बाह्य मुनित्व/ नग्नत्व) को धारण करना चाहिए।

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो ।
कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥ २४४ ॥

भाव ही स्वर्ग और मोक्ष के सुख का कारण है। कोई मुनि यदि भाव से रहित है और उसका चित्त कर्ममल से मलिन है तो वह पाप स्वरूप है और उसका स्थान तिर्यंचगति में है।

खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च संथुया विउला ।
चक्करहरायलच्छी लब्भइ बोही सुभावेण ॥२४५॥

भाव की विशुद्धता से व्यक्ति चक्रवर्ती राजाओं की उस विपुल राजलक्ष्मी को ही नहीं प्राप्त करता जिसको नमन और जिसकी स्तुति विद्याधर, देवों और मनुष्यों के हाथों की अंजलिपंक्ति करती है बल्कि बोधि (रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग) को भी प्राप्त करता है।

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं ।
असुहं च अट्टरउद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥ २४६ ॥

जिनेन्द्र भगवान् के अनुसार भाव तीन प्रकार के हैं- शुभ, अशुभ और शुद्ध। धर्म ध्यान शुभ और आर्त्त तथा रौद्र ध्यान अशुभ हैं।

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं ।
इदि जिणवरेहिं भणिद जं सेयं तं समायरह ॥ २४७ ॥

और शुद्ध ? जिनेन्द्र भगवान् का कथन है कि शुद्ध तो अपनी शुद्ध स्वभावी आत्मा ही है। वह दूर नहीं, अपने ही भीतर है। यह समझकर जो कल्याणकारक हो उसे अंगीकार करना चाहिए।

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो ।
पावइ तिहुवणसारं बोही जिणसासणे जीवो ॥ २४८ ॥

मान कषाय और मिथ्यात्व का मोह नष्ट करके जो जीव समचित्त हो जाता है वह जिनशासन में तीन लोक के सार रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को प्राप्त करता है।

विसयविरतो समणो छद्दसवरकारणाइं भाऊण ।
तित्थयरणामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण ॥ २४९ ॥

इन्द्रिय विषयों से विरक्त हृदय वाले मुनि को सोलहकारण भावनाएं भाने से थोड़े ही समय में तीर्थंकर के नाम और प्रकृति का बन्ध हो जाता है। अर्थात् वह तीर्थंकरत्व प्राप्त कर लेता है।

बारसविहतवयरणं तेरसकिरियाउ भाव तिविहेण ।
धरहि मणमत्तदुरियं णाणंकुसएण मुणिपवर ॥ २५० ॥

हे मुनिश्रेष्ठ, बारह प्रकार के तपों के आचरण से, मन वचन काय से तेरह प्रकार की क्रियाएं करने से और ज्ञान के अंकुश से मन रूपी मदमस्त हाथी को वश में रखा जा सकता है।

पंचविहचेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजमं भिक्खू ।
भावं भावियपुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं ॥२५१॥

शुद्ध आत्म स्वरूप का भावन, पाँच प्रकार के वस्त्रों का यानी सभी वस्त्रों का त्याग, भूमि पर शयन, दो प्रकार का संयम (इन्द्रिय और मन को वश में रखना तथा षट्काय जीवों की रक्षा करना) और भिक्षा भोजन ये निर्मल शुद्ध मुनि के लक्षण हैं।

जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरुगणाण गोसीरं ।
तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भाविभवमहणं ॥२५२॥

जैसे रत्नों में श्रेष्ठ रत्न हीरा है,पेड़ों में श्रेष्ठ पेड़ चन्दन है वैसे ही धर्मों में श्रेष्ठ धर्म जिनधर्म है। वह अगले संसार का, अगले जन्म का विचार करता है।

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥२५३॥

जिनेन्द्र भगवान् का कथन है कि जिन शासन में पूजा आदि व्रत रखना तो पुण्य है और मोह तथा क्षोभ से रहित आत्मा का शुद्ध भाव होना धर्म है।

सद्दहदि य पतेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि ।
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥२५४॥

जो व्यक्ति पुण्य पर श्रद्धा रखते हैं, उसकी प्रतीति करते हैं, उसमें रुचि लेते हैं और उसका स्पर्श करते हैं उनका वह पुण्य भोग का निमित्त है। यानी उससे उन्हें भोग का केन्द्र स्वर्ग तो मिल सकता है। लेकिन वह पुण्य उनके कर्मक्षय का निमित्त नहीं बन सकता। यानी उन्हें मोक्ष नहीं दिला सकता।

अप्पा अप्पम्मि रदो रायादिसु सयलदोसपरिचतो ।
संसारतरणहेदू धम्मो ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥२५५॥

जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं कि आत्मा के राग आदि सभी दोषों से रहित होकर आत्मा में ही रत होने से व्यक्ति संसार सागर से पार उतर जाता है।

अद पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं ।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥२५६॥

जो व्यक्ति आत्मा का भावन नहीं करता और तमाम पुण्यों को करता रहता है उसे सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त नहीं होती। जिनागम में कहा गया है कि वह अनन्त संसारी होता है।

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण ।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥२५७॥

इसलिए कहते हैं कि मनवचनकाय से उस आत्मा की श्रद्धा करो, उसे प्रयत्नपूर्वक यथार्थतः समझो ताकि मोक्ष प्राप्त कर सको।

मच्छो वि सालिसित्थो असुद्धभावो गदो महाणरयं ।
इस णाउं अप्पाणं भावह जिणभावणं णिच्चं ॥२५८॥

चावल बराबर शरीर वाले छोटे से मत्स्य को भी अशुद्ध भाव के कारण सातवें नरक (महानरक) में जाना पड़ा। इसलिए जिनेन्द्र भगवान् की भावना को समझकर निरन्तर आत्मा का ही भावन करना चाहिए।

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो ।
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥२५९॥

यदि व्यक्ति भाव रहित है तो उसका बाह्य परिग्रह का त्याग, पर्वत की गुफा या नदी, कन्दरा आदि स्थानों में निवास और सम्पूर्ण ज्ञान का अध्ययन निरर्थक है।

भंजसु इन्दियसेणं भंजसु मणमक्कडं पयत्तेरण।
मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु ॥२६०॥

हे मुने, तू इन्द्रियों की सेना और मन रूपी वानर का प्रयत्नपूर्वक भंजन कर, बाह्य व्रतों के लोकलुभावन वेश को धारण मत कर।

णवणोकसायवग्गं मिच्छतं चयसु भावसुद्धीए ।
चेइयपवयणगुरुणं करेहि भतिं जिणाणाए ॥२६१॥

हे मुने, तू नोकषाय वर्ग के सभी नौ ईषत् कषायों को तथा मिथ्यात्व को भावशुद्धि द्वारा छोड़ और जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा से चैत्य, प्रवचन तथा गुरु की भक्ति कर।

तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥२६२॥

हे मुने, जिस अतुलित श्रुत ज्ञान को तीर्थंकर भगवान् ने कहा और जिसे गणधर देवों ने अच्छी तरह से निबद्ध किया अर्थात् जिसकी शास्त्र रूप रचना की तू उसका प्रतिदिन विशुद्ध भाव से भावन कर।

पीऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का ।
होंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥२६३॥

इस प्रकार ज्ञान का जल पीकर व्यक्ति उस प्यास की जलन और ताप से मुक्त हो जाता है जिसे मथना सम्भव नहीं होता। वह व्यक्ति तीन लोक का मुकुट मणि सिद्ध बनता है और मोक्ष में निवास करता है।

दस दस दो सुपरीसह सहहि मुणी सयलकाल काएण।
सुत्तेण अप्पमत्तो संजमघादं पमोत्तूण ॥२६४॥

हे मुने, तू बाईस परिषहों को जिन वचन में कही गई रीति के अनुसार एवं प्रमाद रहित होकर सब समय अपने शरीर से सहन कर और अपने संयम को बनाए रख।

जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुदएण ।
तह साहू वि ण भिज्जइ उवसग्गपरीसहेहिंतो ॥२६५॥

जिस प्रकार बहुत समय तक जल में रहने वाले पत्थर को भी जल भेद नहीं पाता उसी प्रकार मुनि को भी उपसर्ग और परिषह भेद नहीं पाते।

भावहि अणुवेक्खाओ अबरे पणवीसभावणा भावि ।
भावरहिएण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं ॥२६६॥

हे मुने, तू अनित्य, अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का और पाँच महाव्रतों की जो पच्चीस भावनाएं हैं उनका भावन कर। भावरहित बाह्य मुनित्व (द्रव्य मुनित्व) के बल पर तो कुछ भी सिद्ध होने वाला नहीं है।

सव्वविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं ।
जीवसमासाइं मुणी चउदसगुणठाणणामाइं ॥२६७॥

हे मुने, अच्छी बात है कि तू सभी परिग्रहों आदि से विरक्त हो गया है। तो भी (भाव शुद्धि के लिए) नौ पदार्थों, सात तत्त्वों, चौदह जीव समासों और चौदह गुणस्थानों का भावन कर।

णवविहबंभं पयडहि अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण ।
मेहुणसण्णासत्तो भमिदो सि भवण्णवे भीमे ॥२६८॥

हे जीव, दस प्रकार के अब्रह्म को छोड़कर नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य को जीवन में उतार। अभी तक तो काम सेवन की अभिलाषा में अपनी आसक्ति के कारण तू भयानक संसार सागर में ही परिभ्रमण करता रहा।

भावसहिदो य मुणिणो पावदि आराहणाचउक्कं च ।
भावरहिदो य मुणिवर भमदि चिरं दीहसंसारे ॥२६९॥

हे मुनिवर, भाव से युक्त मुनि आराधना चतुष्क (दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप) को प्राप्त करता है। इसके विपरीत भाव से रहित मुनि दीर्घ काल तक इस विराट संसार में परिभ्रमण करता है। यानी बार बार जन्ममरण से गुज़रता है।

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं ।
दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए ॥२७०॥

भाव मुनि को कल्याण एवं परम्परा से युक्त सुखों की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत द्रव्यमुनि को मनुष्य, तिर्यंच और कुदेव योनि में जन्म लेकर दुःख उठाने पड़ते हैं।

छायालदोसदूसियमसणं गसिउं असुद्धभावेण ।
पतो सि महावसणं तिरियगईए अणप्पवसो ॥२७१॥

हे मुने, तू छियालीस दोषों से दूषित आहार करता रहा और वह भी अशुद्ध भाव से करता रहा। इसलिए तुझे तिर्यंच गति में जन्म लेकर पराधीनतापूर्वक महान कष्ट झेलने पड़े।

सच्चितभतपाणं गिद्धीं दप्पेणडधी पभुतूण ।
पतो सि तिव्वदुक्खं अणाइकालेण तं चिंत ॥२७२॥

हे जीव, तू ने दुर्बुद्धि होकर अतिशय लालसा एवं गर्व के कारण ऐसा आहार किया और ऐसा जल पिया जिसमें जीव थे। फलस्वरूप अनादिकाल से तुझे तीव्र दुःख मिला। अब तो थोड़ा सोच विचार कर।

कंदं मूलं बीयं पुप्फं पतादि किंचि सच्चितं ।
असिऊण माणगव्वं भमिदो सि अणतसंसारे ॥२७३॥

ज़मीकन्द आदि कन्द, अदरक, मूली, गाजर आदि मूल, चना आदि बीज, नागरवेल आदि पत्र जैसी जो भी सचित्त (जीवयुक्त) वस्तु थी उसे तूने मान और गर्व के साथ भक्षण किया। इस कारण हे जीव, तुझे अनन्त संसार में परिभ्रमण करना पड़ा। यानी बार बार तेरा जन्ममरण हुआ।

विणयं पंचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण ।
अविणयणरा सुविहियं तो ततो मुतिं न पावंति ॥२७४॥

हे मुने, अविनीत को विहित मोक्ष नहीं मिलता। इसलिए मन, वचन, काय, के योग से पाँच प्रकार के विनय का पालन कर।

णियसत्तीए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि ।
तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं ॥२७५॥

हे महायश मुने, जिनभक्ति में उत्कृष्ट और दस भेदों वाले वैयावृत्य को तू सदैव अपनी शक्ति के अनुसार और भक्तिरागपूर्वक कर।

जं किंचिं कयं दोसं मणवयकाएहिं असुहभावेणं ।
तं गरहि गुरुसयासे गारव मायं च मोत्तूण ॥२७६॥

हे मुने, अशुभ भाव के कारण मनवचन काय से जो भी भूल तुझसे हुई हो उसे गर्व और माया त्यागकर अपने गुरु से कह।

दुज्जणवयणचडक्कं णिट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा ।
कम्ममलणासणट्ठं भावेण य णिम्ममा सवणा ॥२७७॥

सत् पुरुष (श्रेष्ठ मुनि/श्रावक) दुष्टों के निष्ठुर और कटु वचनों के प्रहार झेलते रहते हैं ताकि उनके कर्ममल का नाश हो सके। वस्तुतः मुनियों को कोई राग /ममत्व नहीं होता।

पावं खवदि असेसं खमाए पडिमंडिदो य मुणिपवरो ।
खेयरअमरणराणं पसंसणीओ धुवं होदि ॥२७८॥

जो क्षमामण्डित श्रेष्ठ मुनि अपने तमाम पापों का क्षय करने में समर्थ होते हैं उनकी प्रशंसा मनुष्य ही नहीं विद्याधर देव भी करते हैं।

इय णादूण खमागुण खमेहि तिविहेण सयल जीवाणं ।
चिरसंचियकोहसिहिं वरखमसलिलेण सिचेह ॥२७९॥

हे क्षमागुण मुने, मैंने जो पूर्व में कहा है उस पर ध्यान देना और संसार के सभी जीवों को मन वचन काय से क्षमा करना और मुद्दत से संजोई गई अपनी क्रोधाग्नि को क्षमा के श्रेष्ठ जल से सींच डालना।

दिक्खाकालाईयं भावहि अवियारदंसणविसुद्धो ।
उतमबोहिणिमित्तं असारसाराणि मुणिदूण ॥२८०॥

हे मुने, सार तथा असार के फर्क को समझना और उत्तम बोधि (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) की प्राप्ति के लिए निर्विकार, निर्मल सम्यग्दर्शन के साथ अपने दीक्षाकाल को स्मरण में लाते रहना।

सेवहि चउविहलिंगं अब्भंदरलिंगसुद्धिमावण्णो ।
बाहिरलिंगमकज्जं होदि फुडं भावरहियाणं ॥२८१॥

हे मुने, आभ्यन्तर मुनित्व (भावमुनित्व) की विशुद्धता को प्राप्त करने के बाद ही चार प्रकार के बाह्य मुनित्व (द्रव्यमुनित्व) पर ध्यान देना, क्योंकि आभ्यन्तर भाव के बिना बाह्य मुनित्व से कुछ भी सिद्ध नहीं होगा।

आहारभयपरिग्गहमेहुणसण्णाहि मोहिओ सि तुमं ।
भमिदो संसारवरणे अणादिकालं अणप्पवसो ॥२८२॥

हे जीव-आहार, भय, परिग्रह और मैथुन इन चार संज्ञाओं से मोहित हुए तुमने पराधीन होकर अनादि काल से संसार के वन में परिभ्रमण किया है।

बाहिरसयणत्तावणतरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि ।
पालहि भावविसुद्धो पूयालाहं ण ईहंतो ॥२८३॥

हे मुने, शीतकाल में बाहर सोना, ग्रीष्मकाल में (पर्वत के शिखर पर सूर्य सम्मुख) आतापन योग धारण करना और वर्षाकाल में पेड़ के नीचे योग धरना ये सब परवर्ती गुण हैं। पूर्ववर्ती और पहला गुण तो भाव की विशुद्धि ही है। तू सम्मान और लाभ की इच्छा के बगैर उसे ही अपने जीवन में उतारना।

भावहि पढमं तच्चं बिदियं तदियं चउत्थ पंचमयं ।
तियरणसुद्धो अप्पं अणाइणिहरणं तिवग्गहरं ॥२८४॥

हे मुने, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध और संवर इन पाँच तत्त्वों का और त्रिकरण अर्थात् मनवचनकाय/कृत कारित अनुमोदना से शुद्ध होकर आदि अन्त रहित और धर्म अर्थ काम को हरने वाले आत्म स्वरूप का चिन्तन करना।

जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चिंतेदि चिंतणीयाइं ।
ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं ॥२८५॥

हे मुने, जीव जब तक जीवादि तत्त्वों का और चिन्तन करने योग्य का चिन्तन नहीं करता तब तक उसे वृद्धावस्था और मृत्यु से रहित मोक्षस्थान की प्राप्ति नहीं होती।

पावं हवइ असेसं पुण्णमसेसं च हवइ परिणामा ।
परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणेदिट्ठो ॥२८६॥

जिनशासन में यही प्रतिपादित है कि भाव से ही अशेष पाप होता है। भाव से ही अशेष पुण्य होता है और भाव से ही बन्ध एवं मोक्ष होता है।

मिच्छत्तं तह कसायासंजमजोगेहिं असुहलेसेहिं ।
बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो ॥२८७॥

योग (मन, वचन,काय की वर्गणा से आत्मप्रदेशों का संकोच-विस्तार), मिथ्यात्व, कषाय और असंयम में अशुभ लेश्या होती है। इसलिए इन भावों से जीव जिनेन्द्र भगवान् के वचनों से विमुख होता है और अशुभ कर्म को बाँधता है।

तव्विवरीओ बंधइ सुहकम्मं भावसुद्धिमावण्णो।
दुविहपयारं बंधइ संखेपेणेव वज्जरियं ॥२८८॥

पूर्वोक्त के विपरीत, भावों से विशुद्ध जीव को शुभ कर्म का बन्ध होता है। संक्षेप में ये दो प्रकार के जीव क्रमशः अशुभ और शुभ कर्म को बाँधते हैं।

णाणावरणादीहिं य अट्ठहिं कम्मेहिं वेढिओ य अहं ।
डहिऊण इण्हिं पयडमि अणंतणाणाइगुणचित्तां ॥२८९॥

हे मुनिवर, तू यह भावना कर कि मैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से घिरा हुआ हूँ। इसलिए इनको भस्म करके अनन्त ज्ञान आदि गुणों से सम्पन्न अपने निज स्वरूप की चेतना को प्रकट करूँ।

सीलसहस्सट्ठारस चउरासीगुणगणाण लक्खाइं ।
भावहि अणुदिणु णिहिलं असप्पलावणे किं बहुणा ॥२९०॥

शील के अठारह हज़ार भेद हैं और उत्तर गुणों की संख्या चौरासी लाख है। हे मुने, तू इन सबका निरन्तर भावन कर और निरर्थक वचनों में मत उलझ।

झायहि धम्मं सुक्कं अट्ट रउद्दं च झाण मुत्तूण ।
रुद्दट्ट झाइयाइं इमेण जीवेण चिरकालं ॥२९१॥

हे मुने, आर्त्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म्य और शुक्ल ध्यान कर। आर्त्त और रौद्र ध्यान तो तेरा जीव बहुत समय तक कर चुका है।

जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति ।
छिंदंति भावसवणा झाणकुढारेहिं भवरुक्खं ॥ २९२ ॥

ये जो इन्द्रिय सुख के लिए व्याकुल द्रव्यमुनि हैं ये संसार रूपी वृक्ष को नहीं काट सकते। इस वृक्ष को तो सिर्फ़ भावमुनि ही ध्यान के कुल्हाड़े से काटते हैं।

जह दीवो गब्भहरे मारूयबाहाविवज्जिओ जलइ ।
तह रायाणिलरहिओ झाणपईवो वि पज्जलइ ॥ २९३ ॥

जैसे मध्य के घर (गर्भगृह) में हवा की बाधा से रहित होकर दीपक जलता है वैसे ही ध्यान का दीपक राग रूपी हवा से रहित होकर जलता है।

झायहि पंच वि गुरवे मंगलचउसरणलोयपरियरिए ।
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे ॥ २९४ ॥

हे मुने, तू पंचगुरु अर्थात् पंच परमेष्ठी का ध्यान कर/पंच परमेष्ठी ही मंगलकारी हैं, चार शरण और चार लोकोत्तम (अरिहन्त, सिद्ध, साधु, केवली प्रणीत धर्म) से युक्त हैं, नर सुर विद्याधर सहित हैं, पूज्य हैं, आराधना (दर्शन ज्ञान चारित्र तप) के नायक हैं और वीर हैं।

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण ।
वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ॥ २९५ ॥

ज्ञानमय निर्मल शीतल जल का सम्यक्त्व भाव से उपयोग करके भव्यजीव रोग, वृद्धावस्था, मृत्यु वेदना और दाह से मुक्त होते हैं और शिव अर्थात् परमानन्द स्वरूप हो जाते हैं।

जह बीयम्मि य दड्ढे ण विरोहदि अकुरो य महिवीढे ।
तह कम्मबीयदड्ढे भवंकुरो भावसवणाणं ॥ २९६ ॥

बीज जल जाये तो फिर उससे पृथ्वी पर अंकुर नहीं फूटता। इसी प्रकार भावमुनियों के जले हुए कर्मबीज से संसार (जन्ममरण) रूपी अंकुर नहीं फूटता।

भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य ।
इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होदि ॥२९७ ॥

भावमुनि को सुख और द्रव्यमुनि को दुःख मिलता है। इस प्रकार गुणदोष देखकर भाव से ही संयुक्त होना चाहिए।

तित्थयरगणहराइं अब्भुदयपरंपराइं सोक्खाइं ।
पावंति भावसहिया संखेवि जिणेहिं वज्जरियं ॥ २९८॥

जिनेन्द्र भगवान् ने बहुत संक्षेप में संकेत किया है कि भावसहित मुनि अभ्युदय परम्परा से तीर्थंकर, गणधर आदि पदों के सुखों को प्राप्त करते हैं।

ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं ।
भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पणट्ठमायाणं ॥ २९९ ॥

जो मुनि सम्यग्दर्शन, श्रेष्ठ ज्ञान और निर्दोष चारित्र से विशुद्ध हैं, भाव सहित हैं और जिनके कपट भाव पूर्णतः नष्ट हो गए हैं वे धन्य हैं। मैं मनवचनकाय से सदैव उन्हें नमन करता हूँ।

इड्ढिमतुलं विउव्विय किण्णरकिंपुरिसअमरखयरेहिं ।
तेहिं वि ण जादि मोहं जिणभावणभाविओ धीरो ॥ ३०० ॥

सम्यग्दर्शन से सम्पन्न जीव किन्नरों, किंपुरुष देवों, कल्पवासी देवों और विद्याधरों द्वारा विक्रिया रूप से फैलाई गई अतुल ऋद्धियों के भी मोह में नहीं पड़ता।

किं पुण गच्छदि मोहं णरसुरसुक्खाण अप्पसाराणं ।
जाणंतो पस्संतो चिंतंतो मोक्ख मुणिधवलो ॥ ३०१ ॥

तो फिर मोक्ष को जानता, देखता और उसका चिन्तवन करता श्रेष्ठ मुनि भला मनुष्य और देवताओं के स्वरूप सारवाले सुखों के मोह में क्यों पड़ेगा ?

उत्थरइ जा ण जरओ रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं ।
इन्दियबलं ण वियलइ दाव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥३०२ ॥

हे मुने, जब तक बुढ़ापे का आक्रमण नहीं होता, जब तक रोगों की अग्नि तेरी देह रूपी कुटिया को भस्म नहीं करती, जब तक तेरी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं होती तब तक आत्महित कर ले।

छज्जीव छडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहिं ।
कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासतं ॥३०३॥

हे मुने, षट्काय जीवों पर दया करने का कार्य तथा छह अनायतनों को छोड़ने का कार्य मनवचनकाय से कर और अद्भुत आत्मस्वरूप का चिन्तवन कर।

दसविहपाणाहारो अणंतभवसायरे भसंतेण।
भोयसुहकारणट्ठं कदो य तिविहेण सयलजीवाणं ॥ ३०४ ॥

हे मुने, तू ने अनन्त संसार सागर में परिभ्रमण करते हुए अपने सुख के लिए मनवचनकाय से समस्त जीवों के दस प्रकार के प्राणों का आहार किया है।

पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि ।
उप्पजंत मरंतो पत्तो सि णिरंतरं दुक्खं ॥ ३०५ ॥

हे महायश मुने, जीवों के वध के कारण तू ने चौरासी लाख योनियों में जन्म लेते हुए और मृत्यु को प्राप्त होते हुए निरन्तर दुःख ही पाया है।

जीवाणमभयदाणं देहि मुणी पाणिभूयसत्ताणं ।
कल्लाणसुहणिमित्तं परंपरा तिविहसुद्धीए ॥ ३०६ ॥

हे मुने, तू जीवों और प्राणीभूत सत्त्वों को क्रमिक कल्याण और सुख के लिए मनवचनकाय की शुद्धतापूर्वक अभयदान दे।

असियसय किरियवाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी ।
सत्तट्ठी अण्णावी वेणईया होंति बत्तीसा ॥ ३०७ ॥

मिथ्यात्व के तहत क्रियावादियों के एक सौ अस्सी, अक्रियावादियों के चौरासी, अज्ञानियों के सड़सठ और विनयवादियों के बत्तीस भेद हैं।

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं ।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥ ३०८ ॥

जिनधर्म को भली प्रकार सुनकर भी अभव्य जीव अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ते। सच है कि गुड़ पड़ा दूध पीते हुए भी साँप विषरहित नहीं होते।

मिच्छत्तछण्णदिट्ठी दुद्धीए दुम्मएहिं दोसेहिं ।
धम्मं जिणपण्णत्तं अभव्वजीवो ण रोचेदि ॥ ३०९ ॥

बुरे मतों की दोषजन्य दुर्बुद्धि से और मिथ्यात्व से आच्छादित दृष्टिवाले अभव्य जीव को जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित धर्म अच्छा नहीं लगता।

कुच्छियधम्ममि रओ कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुत्तो ।
कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगइभायणो होदि ॥ ३१० ॥

मिथ्या धर्म तथा मिथ्या पाखण्डियों की भक्ति में लगा हुआ और मिथ्या तप करता हुआ व्यक्ति मिथ्या गति यानी दुर्गति का ही शिकार बनता है।

इय मिच्छतावासें कुणयकुसत्थेहिं मोहिओ जीवो ।
भमिदो अणाइकालं संसारे धीर चिंतेहि ॥ ३११ ॥

इस प्रकार कुत्सित नीति और कुत्सित शास्त्रों के मोह में फँसा हुआ यह जीव मिथ्या दृष्टियों के इस संसार में अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है। हे धैर्यवान मुने, तुझे इस सन्दर्भ में विचार करना चाहिए।

पासंडी तिण्णि सदा तिसट्ठि भेया उमग्ग मुत्तूण ।
रुं भहि मणु जिणमग्गे असप्पलावेण किं बहुणा ॥ ३१२ ॥

हे जीव, बस इतना कर कि पाखण्डियों के तीन सौ त्रेसठ भेदोंवाले उन्मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में अपना मन लगा। प्रलापपूर्वक और निरर्थक अधिक कहने से क्या ?

जीवविमुक्को सबओ दंसणमुक्को य होदि चलसबओ ।
सबओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसबओ ॥३१३ ॥

जीव रहित व्यक्ति मुर्दा है तो सम्यग्दर्शन रहित व्यक्ति चलता फिरता मुर्दा है। मुर्दा संसार में और चलता-फिरता मुर्दा लोकोत्तर में अपूज्य होता है।

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं ।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं ॥ ३१४ ॥

जैसे नक्षत्रों पर चन्द्रमा और तमाम पशुसमूह पर शेर भारी पड़ता है वैसे ही मुनि और श्रावक इन दो प्रकार के धर्मों पर सम्यक्त्व भारी पड़ता है।

जह फणिराओ सोहइ फणमणिमाणिक्ककिरणविप्फुरिओ ।
तह विमलदंसणधरो जिणभत्ती पयवणे जीवो ॥ ३१५ ॥

फन में लगे हुए मणिमाणिक्य की विस्फुरित किरणों से जैसे नागेन्द्र (धरणेन्द्र) शोभा पाता है वैसे ही जिनभक्ति और निर्मल सम्यग्दर्शन का धारक जीव जिनशासन में शोभा पाता है।

जह तारायणसहियं ससहरबिंबं खमंडले मिवले ।
भाविय तववयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ॥ ३१६ ॥

जैसे तारों के साथ चन्द्रमा के बिम्ब से निर्मल आकाश शोभित होता है वैसे ही तपस्याओं और व्रतों से निर्मल हुए मुनिगण विशुद्ध सम्यग्दर्शन से शोभित होते हैं।

इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं धरेह भावेण ।
सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥३१७॥

हे मुने, इस प्रकार गुण और दोष को समझकर तू सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को भावपूर्वक धारण कर। यह गुण रूपी रत्नों का सार है और मोक्ष की पहली सीढ़ी है।

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य ।
दंसणणाणुवओगो णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं ॥ ३१८ ॥

यह जीव कर्ता है, भोक्ता है, अमूर्तिक है, अनादि है, अनन्त है और देखने जानने के रूप में उपयोग स्वरूप है। इसका यह रूप जिनेन्द्र भगवान् ने निरूपित किया है।

दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं ।
णिट्ठवइ भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो ॥ ३१९ ॥

जिनभावना से भली प्रकार युक्त भव्य जीव दर्शनावरणी, ज्ञानावरणी, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का नाश करता है।

बलसोक्खणाणदंसण चत्तारि वि पायडा गुणा होंति ।
णट्ठे घाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि ॥३२०॥

पूर्वोक्त चार घाति कर्मों का नाश होने पर जीव के दर्शन, ज्ञान, सुख और बल ये चार गुण प्रकट हो जाते हैं और वह जीव लोक एवं अलोक को प्रकाशित करने लगता है।

णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो ।
अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होदि फुडं ॥ ३२१॥

इसे स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि परमात्मा ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख और बुद्ध है और दरअसल हमारी कर्म रहित आत्मा ही वह परमात्मा है।

इय घाइकम्ममुक्को अट्ठारहदोसवज्जिओ सयलो ।
तिहुवणभवणपदीवो देउ ममं उत्तमं बोहिं ॥ ३२२॥

वह (परमात्मा) घाति कर्मों और क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित है। (अरिहन्त होने के कारण) सशरीर है। तीन लोक रूपी भवन का दीप है। वह मुझे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र प्रदान करे।

जिणवचरणंबुरुहं णमंदि जे परमभत्तिराएण ।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंदि वरभावसत्थेण ॥ ३२३॥

जो व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान् के चरणकमलों में परम भक्तिराग पूर्वक नमन करते हैं वे श्रेष्ठ भाव रूपी शस्त्र से जन्म रूपी लता की जड़ को ही खोद डालते हैं। उन्हें पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता।

जह सलिलेण ण लिप्पदि कमलिणिपत्तं सहावपयडीए ।
तह भावेण ण लिप्पदि कसायविसएहिं सप्पुरिसो ॥ ३२४॥

जैसे कमलिनी का पत्ता स्वभाव से ही जल से लिप्त नहीं होता वैसे ही श्रेष्ठ (सम्यग्दृष्टि सम्पन्न) व्यक्ति भी स्वभाव से ही क्रोध आदि कषायों और इन्द्रिय विषयों से लिप्त नहीं होते।

ते च्चिय भणामि हं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहिं ।
बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो ॥ ३२५॥

वे ही (भाव और सम्यग्दृष्टि युक्त) व्यक्ति सम्पूर्ण कलाओं, शील और संयम से सम्पन्न होते हैं। उन्हीं को मैं मुनि कहता हूँ। जिनके चित्त मैले एवं बहुत से दोषों के घर हैं वे तो (मुनि वेश के बावजूद) श्रावक के समान भी नहीं हैं।

ते धीरवीरपुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण ।
दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभड णिज्जिया जेहिं ॥ ३२६॥

वे व्यक्ति वास्तविक धीर, वीर हैं जिन्होंने क्षमा और इन्द्रिय निग्रह के तीक्ष्ण खड्ग से दुर्जेय, भारी और धृष्ट कषाय रूपी सुभटों को जीता है।

धण्णा ते भयवंता दंसणणाणग्गपवरहत्थेहिं ।
बिसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं ॥ ३२७॥

वे सत् पुरुष (मुनि) धन्य हैं जिन्होंने विषयों के समुद्र में पड़े हुए भव्य जीवों को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान रूपी अपने बलवान हाथों से पार उतारा है।

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरूढा ।
विसयविसपुप्फुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं ॥ ३२८ ॥

मोह रूपी महावृक्ष पर चढ़ी हुई तथा विषय रूपी विष के फूलों से लदी हुई माया रूपी लता को मुनिगण अपने ज्ञान रूपी शस्त्र से काट डालते हैं।

मोहमयगारवेहिं य मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता ।
ते सव्वदुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण ॥ ३२९ ॥

जो मुनि मोह, मद तथा गौरव से परे हैं और करुणाभाव से भरे हुए हैं वे अपने सम्यक् चारित्र के खड्ग से सर्व पापों के स्तम्भ को नष्ट कर देते हैं।

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो ।
तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइंदुव्व पवणपहे ॥ ३३० ॥

जैसे आकाशमार्ग में नक्षत्रसमूह से वेष्टित पूर्णिमा का चन्द्रमा शोभित होता है वैसे ही जिनमत रूपी गगन में गुणों की मणिमाला से वेष्टित मुनीन्द्र रूपी चन्द्रमा शोभा पाता है।

चक्कहररामकेसवसुरवर जिण्गणहराइसोक्खाइं ।
चारणमुणिरिद्धीओ विसुद्धभावा णरा पत्ता ॥ ३३१ ॥

(पुरा काल में) विशुद्ध भाव वाले ऐसे अनेक नर मुनि हो चुके हैं जिन्होंने चक्रधर राम, केशव, सुरवर, जिनवर, गणधर, चारण मुनि आदि की ऋद्धियों को प्राप्त किया है।

सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमं परमविमलतुलं।
पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा ॥ ३३२ ॥

जिनभावना से भावित जीव ऐसी श्रेष्ठ सिद्धि अर्थात् मोक्ष का सुख प्राप्त करते हैं जो कल्याणकारी, अनुपम, उत्तम, श्रेष्ठ, निर्मल और अतुल्य है और अजरता, अमरता जिसकी पहचान है।

ते मे तिहुवणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा ।
दिंतु वरभावसुद्धिं दंसण णाणे चरित्ते य ॥ ३३३ ॥

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि हे सिद्ध भगवान् आप तीन लोक में पूज्य, शुद्ध, निरंजन और नित्य हैं। प्रार्थना है कि मुझे दर्शन, ज्ञान, चारित्र में श्रेष्ठ भावशुद्धि प्रदान करें।

किं जंपिएण बहुणा अट्ठो धम्मो य काममोक्खो य ।
अण्णे वि य वावारा भावम्मि परिट्ठिया सव्वे ॥ ३३४ ॥

आचार्य आगे कहते हैं, बहुत कहने से क्या ? धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, तथा और भी जो व्यापार हैं वे सब शुद्ध भाव में अवस्थित हैं। अर्थात् शुद्ध भाव में तमाम सिद्धियों का वास है।

इय भावपाहुडमिणं सव्वंबुद्धेहि देसियं सम्मं ।
जो पढइ सुणदि भावदि सो पावइ अविचलं ठाणं ॥ ३३५ ॥

इस प्रकार सर्वज्ञ देव ने इस भावपाहुड का भली प्रकार प्रतिपादन किया है। जो इसे पढ़ता, सुनता और इसका चिन्तन करता है उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मोक्खपाहुड
(मोक्षप्राभृतम्)

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण ।
चइदूण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥ ३३६ ॥

पर-द्रव्य को छोड़कर और अपने कर्मों का क्षय करके जिसने ज्ञानमय आत्मा को उपलब्ध किया है उस देव को मैं नमन करता हूँ, नमन करता हूँ।

णमिदूण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं ।
वोच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं ॥ ३३७ ॥

जो देव अनन्त ज्ञान, दर्शन से सम्पन्न और शुद्ध है तथा जिसका पद परम उत्कृष्ट है उस देव को नमस्कार करके परम योगी मुनिराजों के लाभ के लिए मैं उसका (उस देव परमात्मा का) वर्णन करूँगा।

जं जाणिदूण जोदि जोअत्थो जोइदूण अणवरयं ।
अव्वाबाहमणंतं अणोवमं लहदि णिव्वाणं ॥ ३३८ ॥

योग में अवस्थित योगी उस परमात्मा को जानकर और उसे निरन्तर अपने अनुभव में गोचर करके बाधारहित, अनन्त और अनुपम निर्वाण को प्राप्त करता है।

तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं ।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चइवि बहिरप्पा ॥ ३३९ ॥

प्राणधारियों की आत्मा के तीन प्रकार हैं- परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा। बहिरात्मपन को छोड़कर अन्तरात्मा से परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवा ॥ ३४० ॥

इन्द्रियाँ बहिरात्मा हैं। अन्तरंग में प्रकट संकल्प अन्तरात्मा हैं। जो कर्म के कलंक से मुक्त है वह परमात्मा है। वही देव है।

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा ।
परमेट्ठी परमजिणो सिवकरो सासओ सिद्धो ॥ ३४१ ॥

कर्ममल से रहित, शरीर रहित, इन्द्रियरहित और केवल ज्ञानमय विशुद्ध आत्मा ही परमात्मा है। वह परम पद में अवस्थित परम जिन है। कल्याणकर, अविनाशी और निर्वाण में स्थित सिद्ध है।

आरुहवि अन्तरप्पा बहिरप्पा छंडिदूण तिविहेण ।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥ ३४२ ॥

जिनवरेन्द्र तीर्थंकर भगवान् का यह स्पष्ट उपदेश है कि मन-वचन-काय से बहिरात्मा का परित्याग करके अन्तरात्मा का आश्रय लेकर परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।

बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ ॥ ३४३ ॥

बहिरात्मा व्यक्ति मूढ़ दृष्टि होता है। उसका मन बाह्य पदार्थों के प्रति मचलता है। वह अपने इन्द्रिय-द्वारों से अपने स्वरूप से च्युत होता है और अपनी देह को ही आत्मा समझता है।

णियदेहसरिच्छं पिच्छिदूण परिवग्गहं पयत्तेण ।
अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमभावेण ॥ ३४४॥

बहिरात्मा व्यक्ति दूसरे की देह को अपनी देह की तरह ही देखकर उसकी अचेतना के बावजूद यत्नपूर्वक और परम भाव से उसी का ध्यान करता है।

सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदितत्थमप्पाणं ।
सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्ढए मोहो ॥ ३४५ ॥

आत्मा के स्वरूप को नहीं समझनेवाले, अपनी और दूसरों की देहों को ही अपनी और दूसरों की आत्मा मानने वाले मनुष्यों का अपनी पत्नी, पुत्र आदि से मोह बढ़ता जाता है।

मिच्छाणाणेसु रदो मिच्छाभावेण भाविओ संतो ।
मोहोदएण पुणरवि अंगं स मण्णए मणुओ ॥ ३४६ ॥

मोहकर्म के उदय से मिथ्याज्ञान और मिथ्याभाव में पड़ा हुआ मनुष्य आगामी जन्म में भी देह को ही पाना चाहता है।

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो ।
आदसहावे सुरओ जोदि जो लहदि णिव्वाणं ॥ ३४७॥

आत्म स्वभाव में रत जो योगी देह के प्रति निरपेक्ष और निरारम्भ उदासीन रहता है, रागद्वेष के द्वन्द्व में नहीं उलझता, देह के प्रति ममत्व और परिग्रह से रहित होता है वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

परदव्वरओ बज्झदि विरदो मुच्चेदि विविहकम्मेहिं ।
एसो जिणउवदेसो समासदो बंधमुक्खस्स । ३४८ ॥

बन्ध और मोक्ष के बारे में संक्षेप में जिनेन्द्र भगवान् ने यही उपदेश दिया है कि जो पर-द्रव्य में रत रहता है वह अनेक प्रकार के कर्मों से बँधता है और जो उससे विरत होता है वह उनसे छूट जाता है।

सद्दव्वरदो सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं ॥ ३४९ ॥

जो मुनि स्व-द्रव्य अर्थात् अपनी आत्मा में तल्लीन रहता है वह अनिवार्यतः सम्यग्दृष्टि है। सम्यक्त्व से सम्पन्न होने के कारण वह आठ दुष्ट कर्मों का क्षय करने में समर्थ होता है।

जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू ।
मिच्छत्तपरिणदो पुण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं ॥ ३५० ॥

इसके विपरीत जो मुनि पर-द्रव्य में तल्लीन रहता है वह मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यात्व के कारण वह आठ दुष्ट कर्मों से बँधता है।

परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो हु सुग्गई होदि ।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रदि विरद इयरम्मि ॥ ३५१ ॥

पर-द्रव्य से दुर्गति और स्व-द्रव्य से स्पष्टतः सुगति मिलती है। यह जानकर स्व-द्रव्य से राग और पर-द्रव्य (देह आदि) से विराग करना चाहिए।

आदसहावादण्णं सच्चिताचितमिस्सियं हवदि ।
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरिसीहिं ॥ ३५२ ॥

सर्वदर्शी जिनेन्द्र भगवान् ने इस सत्य को प्रकट किया है कि आत्म स्वभाव से इतर जो भी चेतन (पत्नी, पुत्र आदि), अचेतन (धन, धान्य आदि) और मिश्रित (वस्त्राभूषण सहित स्त्री आदि) पदार्थ हैं वे सब पर-द्रव्य हैं।

दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं ।
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवदि सद्दव्वं ॥ ३५३ ॥

ज्ञानावरणादि आठ दुष्ट कर्मों से रहित ज्ञानशरीर, अनुपम, अविनाशी और निर्मल आत्मा को ही जिनेन्द्र भगवान् स्व-द्रव्य कहते हैं।

जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा दु सुचारिता ।
ते जिणवराण मग्गे अणुलग्गा लहहिं णिव्वाणं ॥ ३५४ ॥

निर्दोष चारित्र के धनी जो मुनि पर-द्रव्य से विमुख होते हैं और स्व-द्रव्य (आत्मा) के ध्यान में लीन रहते हैं वे तीर्थंकरों के मार्ग का अनुसरण करते हुए निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

जिणवरमएण जोदि झाणे झाएइ सुद्धभप्पाणं ।
जेण लहदि णिव्वाणं ण लहदि किं तेण सुरलोयं ॥ ३५५ ॥

जिस योगी को जिनेन्द्र भगवान् के मतानुसार शुद्ध आत्मा के ध्यान में लीन रहने से निर्वाण की प्राप्ति होती है, क्या उसे स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होगी ?

जो जादि जोयणसयं दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं ।
सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाउ भुवणयले ॥ ३५६ ॥

उत्तर साफ़ है। जो व्यक्ति भारी बोझ लादकर पृथ्वी पर एक दिन में सौ योजन तक जाता है क्या वह आधा कोस नहीं जा सकेगा ?

जो कोडिए ण जिप्पइ सुहडो संगामएहिं सव्वेहिं ।
सो किं जिप्पइ इक्किं णरेण संगामए सुहडो ॥ ३५७ ॥

जो वीर युद्धरत एक करोड़ मनुष्यों को जीत लेता है क्या वह एक मनुष्य को नहीं जीत पाएगा ?

सग्गं तवेण सव्वो वि पावए तहिं वि झाणजोएण ।
जो पावइ सो पावदि परलोए सासयं सोक्खं ॥ ३५८ ॥

(कायक्लेश आदि) तप से तो बहुत से लोग स्वर्ग पा लेते हैं। लेकिन जो ध्यान के योग से स्वर्ग प्राप्त करते हैं वे उससे शाश्वत सुख यानी मोक्ष भी पा सकते हैं।

अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेदि जह तह य ।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥ ३५९ ॥

जैसे शोधन सामग्री से स्वर्ण शुद्ध स्वर्ण बन जाता है वैसे ही काल आदि लब्धि से आत्मा (शुद्ध होकर) परमात्मा बन जाती है।

वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होदू णिरदि इयरेहिं ।
छायातबट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥ ३६० ॥

अव्रत और अतप से नरक का दुःख झेलने की अपेक्षा व्रत और तप से स्वर्ग प्राप्त कर लेना अच्छा है। छाया और धूप में बैठने वाले के प्रतिपालक कारणों में बड़ा भेद है।

जो इच्छदि णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रुंद्दाओ ।
कमिंमधणाण डहणं सो झायदि अप्पयं सुद्धं ॥ ३६१ ॥

जो व्यक्ति संसार रूपी विराट महासागर से बाहर निकलना चाहता है वह कर्म के ईंधन का दहन करने वाले शुद्ध आत्मध्यान में लीन रहता है।

सव्वे कसाय मोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं ।
लोयववहारविरदो अप्पा झाएह झाणत्थो ॥ ३६२ ॥

तमाम कषायों, गौरव, मद, राग, द्वेष तथा मोह को छोड़कर, सांसारिक व्यवहारों से विरत रहकर और ध्यान में स्थित होकर मुनिजन आत्मा का ध्यान करते हैं।

मिच्छतं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण ।
मोणव्वएण जोदि जोयत्थो जोयए अप्पा ॥ ३६३ ॥

मिथ्यात्व, अज्ञान और पाप-पुण्य को मन-वचन-काय से त्यागकर, मौनव्रत धारण करके और ध्यान में अवस्थित होकर योगीजन आत्मा का ध्यान करते हैं।

जं मया दिस्सदे रूवं तं ण णाणादि सव्वहा ।
जाणगं दिस्सदे णेव तम्हा जंपेमि केण हं ॥ ३६४ ॥

जो रूप मुझे दिखाई देता है (जड़ होने के कारण) वह कुछ भी नहीं जानता। मैं ज्ञायक (जाननेवाला) हूँ। लेकिन अमूर्तिक होने के कारण मैं उसे दिखाई नहीं देता। इसलिए दोनों के मध्य संवाद कैसे हो ?

सव्वासवणिरोहेण कम्मं खवदि संचिदं ।
जोयत्थो जाणए जोदि जिणदेवेण भासियं ॥ ३६५ ॥

ध्यान में अवस्थित योगी पहले तमाम आस्रवों का निरोध करता है। यानी संवरयुक्त होता है। फिर पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करता है। वस्तुतः इस सम्बन्ध में वह जिनेन्द्र भगवान् के मन्तव्य को जानता है।

जो सुत्तो ववहारे सो जोदि जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥ ३६६ ॥

जो योगी व्यवहार के मामले में सोया हुआ होता है वह आत्म स्वभाव को जानने के मामले में जागृत रहता है। इसके विपरीत्र जो व्यवहार के मामले में जागृत होता है वह अपनी आत्मा के मामले में सोया हुआ रहता है।

इय जाणिऊण जोदि ववहारं चयदि सव्वहा सव्वं ।
झायदि परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेहिं ॥ ३६७ ॥

ऐसा (पूर्वोक्त को) जानकर योगी तमाम व्यवहारों को सब प्रकार से त्याग देता है और जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है उसी प्रकार परमात्मा का ध्यान करता है।

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सदि कुणह ॥ ३६८ ॥

पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों, तीन गुप्तियों और तीन रत्नों (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप-रत्नत्रय) से संयुक्त होकर हे मुनिजनो, सदैव ध्यान और शास्त्र का अभ्यास करना चाहिए।

रयणतयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो ।
आराहणाविहाणं तस्स फलं केवलं णाणं ॥ ३६९॥

रत्नत्रय की आराधना करता हुआ जीव आराधक है और आराधना के विधान का फल केवलज्ञान है।

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरिसी य ।
सो जिणवरेहिं भणिदो जाण तुमं केवलं णाणं ॥ ३७०॥

आत्मा स्वयं सिद्ध है, किसी से उत्पन्न नहीं है। निर्मल है। समस्त लोकालोक को जानती, देखती है। जिनेन्द्र भगवान् का कथन है कि हे मुने, यह आत्मा ही केवलज्ञान है। इसे ही केवल ज्ञान समझना।

रयणत्तयं पि जोदि आराहइ जो हु जिणवरमएण।
सो झायदि अप्पाणं परिहरइ परं ण संदेहो ॥३७१॥

जिनेन्द्र भगवान् के मतानुसार जो योगी रत्नत्रय की आराधना करता है वह निःसंदेह पर-द्रव्य का परित्याग करता है और आत्मा का (स्व-द्रव्य) ध्यान करता है।

जं जाणदि तं णाणं जं पिच्छदि तं च दंसणं णेयं ।
तं चारित्तं भणिद परिहारो पुण्णपावाणं ॥ ३७२॥

यह समझना चाहिए कि जो जानता है वह ज्ञान, जो देखता है वह दर्शन और जो पापपुण्य दोनों से परे होता है, वह चारित्र है। एक मात्र आत्मा ही जानती, देखती और पापपुण्य से परे होती है। इसलिए वही ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रय है।

तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवदि सण्णाणं ।
चारित्तं परिहारो परूवियं जिणवरिंदेहिं ॥३७३॥

जिनेन्द्र भगवान् का कथन है कि तत्त्वों (जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष) के प्रति श्रद्धा सम्यक्त्व है, तत्त्वों को जानना सम्यग्ज्ञान है और पर-द्रव्य का परिहार चारित्र है।

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेदि णिव्वाणं ।
दंसणविहीणपुरिसो ण लहदि तं इच्छियं लाहं ॥३७४॥

जो व्यक्ति दर्शन से शुद्ध यानी सम्यग्दर्शन का धनी है वही शुद्ध है। उसी को निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन-से रहित व्यक्ति को अभीप्सित लाभ अर्थात् मोक्ष नहीं मिलता।

इय उवएसं सारंजरमरणहरं खु मण्णए जं तु ।
तं सम्मत्तं भणिद सवणाणं सावयाणं पि ॥ ३७५ ॥

यही (पूर्वोक्त) उपदेश का सार है। बुढ़ापे और मौत को हरने वाला है। इसे मानना अर्थात् इस पर श्रद्धा रखना ही सम्यक्त्व है। सार की यह बात मुनि और श्रावक दोनों वर्गों के लिए है।

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेदि जिणवरमएण ।
तं सण्णाणं भणिद अवियत्थं सव्वदरसीहिं ॥ ३७६ ॥

योगी मुनि जीव और अजीव पदार्थ के भेद को जिनेन्द्र भगवान् के मतानुसार जानता है। यह उसका सम्यग्ज्ञान है। सर्वदर्शी जिनेन्द्र भगवान् द्वारा किया गया यह सत्य कथन है।

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणदि पुण्णपावाणं ।
तं चारित्तं भणिद अवियप्प कम्मरहिएहिं ॥ ३७७॥

पूर्वोक्त जीव-अजीव भेद रूप सत्यार्थ सम्यग्ज्ञान को जानकर योगी पुण्य और पाप का परित्याग करता है। घाति कर्मों से रहित सर्वज्ञ भगवान् इसे ही निर्विकल्प सम्यक् चारित्र कहते हैं।

जो रयणत्तयजुत्तो कुणदि तवं संजदो ससत्तीए ।
सो पावदि परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ॥ ३७८॥

जो संयमी मुनि रत्नत्रय से संयुक्त होकर अपनी शक्ति के अनुसार तप करता है वह शुद्ध आत्मा का ध्यान करता हुआ परम पद निर्वाण को प्राप्त करता है।

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरिओ ।
दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ॥ ३७९॥

योगी तीन (तीनों ऋतुओं) में, तीन (मन, वचन, काय) के द्वारा तीन (माया, मिथ्यात्व और निदान रूपी तीन शल्य) से रहित और तीन (दर्शन, ज्ञान, चारित्र) से मण्डित होकर दो (राग, द्वेष) से मुक्त होता है और परमात्मा का ध्यान करता है।

मयमायकोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो ।
णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥ ३८०॥

जो जीव क्रोध, मद, माया और लोभ से रहित होता है और जिसका स्वभाव निर्मल होता है उसे उत्तम सुख मिलता है।

विसयकसाएहि जुदो रुद्दो परमप्पभावरहियमणो ।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो ॥ ३८१॥

जो जीव विषय कषायों से युक्त है, आक्रामक स्वभाव का है, परमात्मा की भावना से रहित और जिन मुद्रा (जिनमत) से विमुख है उसे सिद्धि (मोक्ष) का सुख नहीं मिलता।

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण जिणवरुद्दिट्ठं ।
सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे ॥३८२॥

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट जिनमुद्रा वस्तुतः मोक्षसुख है। अर्थात् मोक्ष सुख का कारण है। जिन्हें स्वप्न में भी यह मुद्रा अच्छी नहीं लगती वे इस गहरे संसार में ही बने रहते हैं। उन्हें मोक्ष नहीं मिलता।

परमप्पय झायंतो जोदि मुच्चेइ मलदलोहेण ।
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं॥३८३॥

परमात्मा के ध्यान में रत योगी आत्मा को मलिन करने वाले लोभकषाय से मुक्त हो जाता है और नये कर्म का आस्रव भी उसे नहीं होता ।

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोदि ॥ ३८४॥

ऐसे योगी की बुद्धि सम्यग्दर्शन से भावित होती है और वह दृढ़ चारित्र को धारण करके आत्मा का ध्यान करता हुआ परमात्म पद को प्राप्त करता है।

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवदि अप्पसमभावो ।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥३८५॥

आत्मा का स्वधर्म सम्यक् चारित्र है। उसमें सब जीवों के प्रति समभाव और राग रोष से रहित जीव का अनन्य भाव (एकात्म भाव) होता है।

जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो ।
तह रागादिविजुत्तो जीवो हवदि हु अणण्णविहो ॥३८६॥

जैसे स्फटिक मणि निर्मल होती है। लेकिन परद्रव्य के संयोग से अन्य-अन्य सी हो जाती है वैसे ही आत्मा निर्मल है पर रागद्वेष आदि भावों से संयुक्त होने पर अन्य-अन्य सी हो जाती है।

देवगुरुम्मि य भत्तो साहम्मियसंजदेसु अणुरत्तो ।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होदि जोई सो ॥३८७॥

सम्यग्दर्शन को धारण करते हुए और ध्यान में लीन रहते हुए भी देव तथा गुरु में योगी की भक्ति और समानधर्मा संयमी मुनियों के प्रति अनुरक्ति बनी रहती है।

उग्गतबेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं ।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण ॥३८८॥

अज्ञानी मुनि अनेकानेक जन्मों में जितना कर्मक्षय करता है उतना कर्मक्षय तो ज्ञानी मुनि तीन गुप्ति सहित यानी मन वचन काय की प्रवृत्तियों के निग्रह के साथ अन्तर्मुहूर्त में कर लेता है।

सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू ।
सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीओ ॥३८९॥

जब इष्ट के संयोग से मुनि को पर-द्रव्य के प्रति राग होता है तो स्वाभाविक है कि अनिष्ट के संयोग से उसके प्रति उसे द्वेष भी होगा। इस प्रकार रागद्वेष के कारण वह अज्ञानी है। इसके विपरीत ज्ञानी में इष्ट पर-द्रव्य के प्रति राग और अनिष्ट पर-द्रव्य के प्रति द्वेष नहीं होता।

आसवदेहू य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवदि ।
सो तेण दु अण्णाणी आदसहावा दु विवरीदु ॥३९०॥

राग का भाव अगर मोक्ष के निमित्त भी हो तो भी वह आस्रव का, कर्मबन्ध का कारण है। इसलिए जो मुनि मोक्ष के प्रति भी रागभाव रखता है वह आत्मस्वभाव से विपरीत होने के कारण अज्ञानी है।

जो कम्मजाइमइओ सहावणाणस्स खंडदूसयरो ।
सो तेण दु अण्णाणी जिणसासणदूसगो भणिदो ॥ ३९१॥

कर्मरत इन्द्रियों से मिला ज्ञान ही जिसके लिए ज्ञान है वह स्वभाव ज्ञान अर्थात् केवल ज्ञान को खण्ड-खण्ड करने का दोषी है। खण्ड ज्ञान को पूर्ण ज्ञान समझने के कारण वह अज्ञानी है। वह जिनमत को दूषित कर रहा है।

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहिं संजुत्तं ।
अण्णेसु भावरहियं लिंगग्गहणेण किं सोक्खं ॥३९२॥

अगर ज्ञान चारित्र रहित और तप दर्शन रहित है तथा और भी सारा क्रियाव्यापार शुद्धभाव से रहित है तो ऐसा मुनिवेश धारण करने में क्या सुख है ?

अच्चेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेदि अण्णाणी।
सो पुण णाणी भणिदो जो मण्णइ चेयणे चेदा ॥३९३॥

जो अचेतन में चेतन को मानता है वह अज्ञानी है और जो चेतन में ही चेतन को मानता है वह ज्ञानी है।

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो।
तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहदि णिव्वाणं ॥३९४॥

तपरहित ज्ञान और ज्ञान रहित तप दोनों ही अकार्य हैं। ज्ञान और तप के संयुक्त होने पर ही निर्वाण प्राप्त होता है।

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेदि तवयरंण।
णादूण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥३९५॥

तीर्थंकरों को मोक्ष मिलना अटल है। वे मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यय इन चार ज्ञानों के धनी हैं। फिर भी वे तप करते हैं। ऐसा पक्के तौर पर जानकर और ज्ञानयुक्त होकर तप करना चाहिए।

बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहियपरियम्मो ।
सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ॥३९६॥

जो साधु बाह्य मुनिवेश से युक्त है लेकिन आभ्यन्तर मुनित्व अर्थात् राग द्वेष रहित आत्मानुभव से वंचित है वह आत्म स्वरूप के चारित्र से भ्रष्ट और मोक्षपथ का विनाशक है।

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि ।
तम्हा जहाबलं जोदि अप्पा दुक्खेहि भावए ॥३९७॥

सुख से अर्जित ज्ञान दुःख आते ही नष्ट हो जाता है। इसलिए योगी को चाहिए कि वह यथाशक्ति दुःख अर्थात् तपश्चरण आदि के कष्टों के साथ आत्मा का चिन्तवन करे।

आहारासणणिद्दाजयं च कादूण जिणवरमएण।
झायव्वो णियअप्पा णादूणं गुरूपसाएण ॥३९८॥

जिनमत के अनुसार आहार, आसन और निद्रा को जीतकर और गुरुप्रसाद से अपनी आत्मा को जानकर उसका (अपनी आत्मा का) ध्यान करना चाहिए।

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा ।
सो झायव्वो णिच्चं णादूणं गुरूपसाएण॥३९९॥

आत्मा दर्शन ज्ञान चारित्रमय है। इस प्रकार उसे गुरुप्रसाद से जानकर सदैव उसका ध्यान करें।

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णादूण भावणा दुक्खं ।
भावियसहावपुरिसो विसयेसु विरच्चए दुक्खं ॥४००॥

आत्मा को जानना कष्टसाध्य है। उसे जानकर उसका भावन करना यानी उसे सतत अनुभव करना भी कष्टसाध्य है। फिर उसे अनुभव में उतारने वाले व्यक्ति का विषयों से निरन्तर विरक्त रहना भी कष्टसाध्य है।

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम ।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥४०१॥

मनुष्य जब तक इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्त है तब तक वह आत्मा को नहीं जानता। विषयों से विरक्त चित्त योगी ही आत्मा को जानता है।

अप्पा णादूण णरा केई सब्भावभावपब्भट्ठा।
हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा ॥४०२॥

कई मनुष्य आत्मा को जानने के बाद श्रेष्ठ आत्मभाव से च्युत हो जाते हैं। विषयों में विमोहित हुए वे मूर्ख इस चार गति रूप संसार में ही परिभ्रमण करते रहते हैं।

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णादूण भावणासहिया ।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥ ४०३ ॥

विषयों से विरक्त और तप एवं गुणों से सम्पन्न जो व्यक्ति आत्मा को जानकर निरन्तर उसका भावन करते हैं वे संसार से मुक्त हो जाते हैं।

परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो ।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीओ ॥४०४॥

जिस व्यक्ति में पर-द्रव्य के प्रति मोहवश परमाणु बराबर भी राग है वह व्यक्ति अज्ञानी और मूर्ख है। वह आत्म स्वभाव के विपरीत है।

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं ।
होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥४०५॥

जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं, दृढ़ चारित्र के धनी हैं, आत्मा का ध्यान करते हैं और विषयों से विरक्त चित्त हैं उन्हें निश्चय ही मोक्ष मिलता है।

जेण रागो परे दव्वे संसारस्स हि कारणं ।
तेणावि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पे सभावणं ॥ ४०६ ॥

पर-द्रव्य में राग होना संसार का यानी जन्ममरण के चक्र का कारण है। इसलिए योगी सदैव अपनी आत्मा में ही अपने भाव को केन्द्रित रखते हैं।

णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसुय ।
सत्तूणं चेव बंधूणं चारित्तं समभावदो ॥ ४०७॥

निन्दा-प्रशंसा, दुःख-सुख और शत्रु-मित्र में समभाव रखना चारित्र है।

चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्ठा।
केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥४०८॥

कई मनुष्य व्रत और समिति से रहित हैं। उनकी आचार क्रिया भी आवृत है। इसलिए वे शुद्ध भाव से च्युत हैं। लेकिन कहते वे ऐसा हैं कि यह काल (पंचम काल) वस्तुतः ध्यान करने के योग्य नहीं है।

सम्मत्तणाणरहिओ अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को ।
ससारसुहे सुरदो ण हु कालो भणदि झाणस्स ॥४०९॥

सम्यक्त्व और ज्ञान से रहित उक्त अभव्य जीव को निस्सन्देह मोक्ष मिलने वाला नहीं है। वह तो संसार के सुखों में आसक्त है और कहता यह फिरता है कि यह काल ही ध्यान के योग्य नहीं है।

पंचसु महव्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणदि झाणस्स ॥४१०॥

जो पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों में मूढ़ एवं अज्ञानी है वही यह कहता है कि यह काल ही ध्यान करने योग्य नहीं है।

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेदि साहुस्स ।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥४११॥

इस भरत क्षेत्र में पंचम काल में भी आत्म स्वभाव में स्थित मुनियों को धर्मध्यान होता है। लेकिन अज्ञानी जन इसे भी नहीं मानते।

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहिं इंदत्तं ।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥४१२॥

आज भी (इस पंचम काल में भी) जो मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की शुद्धता से युक्त हैं और आत्मा का ध्यान करते हैं वे इन्द्र अथवा लौकान्तिक देव के रूप में जन्म लेते हैं और उस रूप में अपनी उम्र पूरी करने के बाद मोक्ष प्राप्त करते हैं।

जे पावमोहियमई लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं ।
पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥४१३॥

जिनकी बुद्धि पापकर्म के मोह में पड़ी हुई है वे मुनि का स्वरूप धारण करके भी पाप ही करते हैं। उन पापियों के लिए मोक्ष के दरवाज़े बन्द हैं।

जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाही य जायणासीला ।
आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥४१४॥

जिनकी आसक्ति पाँच प्रकार के वस्त्रों (अण्डज, कर्पासज, वल्कल, चर्मज और रोमज) में है, जो परिग्रही हैं, याचना करते रहना जिनका स्वभाव है और जो पापकर्म में लिप्त हैं उनके लिए मोक्षमार्ग के दरवाज़े बन्द हैं।

णिग्गंथमोहमुक्का बावीसरपरीसहा जियकसाया ।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥४१५॥

जो परिग्रह रहित और मोहमुक्त हैं, बाईस परिषहों को सहते हैं और क्रोध आदि कषायों को जीत चुके हैं वे ही मुनि मोक्षमार्ग में स्वीकार्य हैं।

उद्धद्धमज्झलोये केई मज्झं ण अहयमेगागी ।
इय भावणाए जोई पावंति हु सासयं सोक्खं ॥४१६॥

ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक में कोई भी मेरा नहीं है, मैं एकाकी आत्मा हूँ-इस भावना से योगी मुनि स्पष्टतः शाश्वत सुख अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं।

देवगुरूणं भत्ता णिव्वेयपरंपरा विचिंतिंता ।
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥४१७॥

देव और गुरु के भक्त, वैराग्यक्रम के चिन्तन में तल्लीन, ध्यान में रत और श्रेष्ठ चारित्र के धनी मुनिजन मोक्षमार्ग में स्वीकार्य होते हैं।

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहदि णिव्वाणं ॥४१८॥

निश्चय नय का यह सोच है कि आत्मा को आत्मा में ही आत्मा के लिए ही भली प्रकार तल्लीन रखने वाला योगी स्पष्टतः सम्यक् चारित्र का धनी होता है और वह मोक्ष प्राप्त करता है।

पुरिसायारो अप्पा जोई वरणाणदंसणसमग्गो।
जो झायदि सो जोई पावहरो हवदि णिद्दंदो ॥४१९॥

आत्मा पुरुषाकार और योगी है। श्रेष्ठ ज्ञान, दर्शन से परिपूर्ण है। ऐसी आत्मा का जो योगी मुनि ध्यान करता है उसके पाप दूर हो जाते हैं (उसके पूर्व कर्मबन्ध का नाश हो जाता है) और वह राग द्वेष आदि विकल्पों से रहित हो जाता है यानी उसका नया कर्मबन्ध होने की सम्भावना भी नहीं रहती।

एवं जिणेहि कहियं सवणाणं सावयाण पुण सुणसु ।
संसारविणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं ॥४२०॥

पूर्वोक्त उपदेश तो जिनेन्द्र भगवान् ने श्रमणों (मुनियों) को दिए हैं। अब श्रावकों को दिए गए उनके उन उपदेशों पर ध्यान दें जिनसे जन्ममरण का चक्र खत्म होता है और सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त होती है।

गहिदूण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं ।
तं झाणे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खयट्ठाए ॥४२१॥

हे श्रावको, (सबसे पहले) अत्यन्त निर्मल और सुमेरु पर्वत की तरह अविचल सम्यग्दर्शन को ग्रहण करना और दुःखों के विनाश के लिए उसे सदैव अपने ध्यान में धारण किए रहना।

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ॥४२२॥

जो जीव सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) का ध्यान करता है वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है। फिर उस सम्यग्दृष्टि जीव के आठ दुष्ट कर्मों का क्षय हो जाता है।

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥ ४२३॥

अधिक कहने से क्या ? इतना ही समझ लीजे कि जो श्रेष्ठ मनुष्य अतीत में सिद्ध हुए हैं और भविष्य में होंगे उन सब के पीछे सम्यक्त्व की ताकत है।

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥ ४२४ ॥

जिन मनुष्यों ने मोक्षदायक सम्यक्त्व को स्वप्न में भी कभी मलिन नहीं किया वे धन्य हैं, कृतार्थ हैं, शूरवीर और पण्डित हैं और वे ही मनुष्य हैं।

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे ।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ ४२५ ॥

हिंसा रहित धर्म में, अठारह दोषों से रहित देव में और मोक्षमार्ग के उपदेशक गुरु में श्रद्धा रखना ही सम्यक्त्व है।

जहजायरूवरूवं सुसंजयं सव्वसंगपरिचत्तं।
लिंगं ण परावेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं ॥ ४२६ ॥

जैसा जन्म हुआ वैसा ही, लौकिक जनों की संगति से दूर, पर-द्रव्य से किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं- इस मुनिवेश में श्रद्धा रखना ही सम्यक्त्व है।

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च वंदए जो दु।
लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु॥ ४२७॥

जो व्यक्ति लज्जा, भय अथवा गौरव के कारण कुत्सित देवता, कुत्सित धर्म और कुत्सित मुनिवेश की वन्दना करता है वह स्पष्टतः मिथ्या दृष्टि है।

सपरावेक्खं लिंगं राई देवं असंजयं वंदे।
मण्णइ मिच्छादिट्ठी ण हु देवं मण्णदि सुद्धसम्मत्तो॥ ४२८॥

जो व्यक्ति अपनी अथवा परायी लौकिक अपेक्षा से वेश धारण करने वाले, रागग्रस्त देवताओं और असंयमित व्यक्तियों की वन्दना करता है, उनके प्रति श्रद्धा रखता है वह मिथ्या दृष्टि है। शुद्ध सम्यग्दृष्टि स्पष्टतः इन्हें नहीं मानता।

सम्माइट्ठी सावय धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि।
विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ ४२९॥

सम्यग्दृष्टि श्रावक जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदेशित धर्म का पालन करता है। जो इसके विपरीत करता है उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए।

मिच्छादिट्ठी जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ ।
जम्मजरमरणपउरे दुक्खसहस्साउले जीवो ॥ ४३०॥

मिथ्या दृष्टि व्यक्ति, जन्म, जरा तथा मरण की प्रचुरता वाले और हज़ारों दुःखों से भरे हुए इस संसार में सुख से वंचित रहता हुआ परिभ्रमण करता रहता है।

सम्म गुणं मिच्छ दोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु।
जं ते मणस्स रुच्चइ किं बहुणा पलविएणं तु ॥ ४३१॥

हे भव्य जीव, व्यर्थ बहुत कहने से क्या ?सम्यक्त्व के गुणों और मिथ्यात्व के दोषों पर अपने मन से विचार कर और फिर वह कर जो तेरे मन को अच्छा लगे।

बाहिरसंगविमुक्को ण वि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो ।
किं तस्स ठाणमउणं ण वि जाणादि अप्पसमभावं ॥ ४३२॥

अगर तू आत्मा के समभाव को नहीं जानता तो बाह्य परिग्रह छोड़ने, मिथ्यात्व भाव रहित निर्ग्रन्थ वेश धारण करने, कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े रहने और मौन धारण करने से क्या ? इनसे कुछ भी हासिल नहीं होगा।

मूलगुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू ।
सो ण लहदि सिद्धिसुहं जिणलिंगविराहगो णियदं ॥ ४३३॥

जो मुनि मूल गुणों को तोड़ मरोड़कर बाह्य कर्मों में लगा रहता है वह मोक्ष के सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। वह निस्सन्देह जैन मुनित्व का ग़लत प्रस्तोता है।

किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं तु ।
किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥ ४३४॥

बाह्य कर्म, अनेक प्रकार के उपवास आदि तप और आतापन योग आदि कायक्लेश अगर आत्मस्वभाव के विपरीत हैं तो वे क्या करेंगे ? उनसे कुछ भी हासिल नहीं होगा।

जदि पढदि बहु सुदाणिय जदि काहिदि बहुविहं च चारित्तं ।
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥४३५॥

बहुत से शास्त्रों को पढ़ना, बहुत प्रकार से चारित्र का आचरण करना आदि अगर आत्मा के विपरीत हैं तो ये मात्र अज्ञानी की क्रियाएं हैं।

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य जो होदि।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥४३६॥

गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साहू।
झाणज्झयणे सुरदो सो पावदि उत्तमं ठाणं॥४३७॥

जो साधु वैराग्य में तत्पर हो, पर-द्रव्यों से विमुख हो, सांसारिक सुखों से विरक्त हो, अपने शुद्ध आत्मसुख में तल्लीन हो, गुणसमूह से विभूषित हो, हेय और उपादेय में भेद करना जानता हो और ध्यान तथा अध्ययन में निमग्न हो उसे मोक्ष मिलता है।

णविएहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं।
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह॥४३८॥

नमन किए जाने योग्य व्यक्ति भी जिसे नमन करते हैं, अनवरत ध्यान किए जाने योग्य व्यक्ति जिसका ध्यान करते हैं और स्तुति किए जाने योग्य व्यक्ति जिसकी स्तुति करते हैं ऐसा वह देह के भीतर क्या है इसे जानना चाहिए।

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥४३९॥

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये जो पाँच परमेष्ठी हैं ये भी स्पष्टतः आत्मा के भीतर ही अवस्थित हैं। इसलिए साफ़ तौर पर आत्मा ही मेरे लिए शरण है।

सम्मतं सण्णाणं सच्चारितं हि सतवं चेव।
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥४४०॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप ये चारों आत्मा के भीतर ही अवस्थित हैं। इसलिए साफ़ तौर पर आत्मा ही मेरे लिए शरण है।

एवं जिणपण्णतं मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥४४१॥

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे गए इस प्रकार के मोक्ष पाहुड को जो व्यक्ति पढ़ता है, सुनता है, चिन्तवन करता है उसे शाश्वत सुख यानी मोक्ष की प्राप्ति होती है।

लिंगपाहुड
(लिङ्गप्राभृतम्)

कादूण णमोकारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं ।
वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं समासेण ॥४४२॥

मैं अरिहन्तों को और उसी प्रकार सिद्धों को नमन करके मुनि की पहचान निरूपित करने वाले पाहुड शास्त्र की रचना संक्षेप में कर रहा हूँ।

धम्मेण होदि लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती ।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायध्वो ॥४४३॥

मुनित्व तो धर्मसहित होता है। सिर्फ़ मुनिवेश से धर्म की प्राप्ति नहीं होती। धर्म तो भाव स्वरूप है। उसे जानना चाहिए। अकेले वेश से कुछ नहीं होता। इसलिए उससे क्या लेना देना ?

जो पावमोहिदमदी लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
उवहसदि लिंगिभावं लिंगम्मिय णारदो लिंगी ॥४४४॥

पाप से मोहित बुद्धि का व्यक्ति तीर्थंकर भगवान् के वेश को ग्रहण करके मुनिभाव का सिर्फ़ उपहास ही करता है। वह मुनियों में नारद है। वह मुनियों में विदूषक है।

णच्चदि गायदि दावं वायं वाएदि लिंगरूवेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥४४५॥

जो व्यक्ति श्रमण वेश धारण करके नाचता, गाता और वाद्ययंत्र बजाता फिरता है वस्तुतः उसकी बुद्धि पाप से मोहित है। वह पशु है। श्रमण नहीं है।

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयतेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥४४६॥

जो व्यक्ति श्रमणवेश धारण करके परिग्रह का संग्रह करता है, उसका आर्त्तध्यान करता है और बहुत प्रयत्न से उसकी रक्षा करता है वस्तुतः उसकी बुद्धि पाप से मोहित है। वह पशु है। श्रमण नहीं है।

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी ।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥४४७॥

श्रमणवेश के बावजूद जो मुनि कषाय से गर्वित होकर नित्य कलह करता है, विवाद करता है, जुआ खेलता है उस पापी को यह सब करते हुए नरक में जाना पड़ता है।

पाओपहदंभावो सेवदि य अबंभु लिंगिरूवेण।
सो पावमोहिदमदी हिंडदि संसारकंतारे ॥४४८॥

श्रमणवेश के बावजूद जो मुनि व्यभिचार में लिप्त होता है उसका आत्मभाव पाप से नष्ट हो गया है। उसकी बुद्धि पाप से मोहित है। उसे संसार के वन में ही परिभ्रमण करते रहना है। उसे मुक्ति नहीं मिलेगी।

दंसणणाणचरिते उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण।
अट्टं झायदि झाणं अणंतसंसारिओ होदि॥४४९॥

जो मुनि श्रमणवेश धारण करके सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र को ध्यान का विषय नहीं बनाता है और आर्त्तध्यान करता रहता है वह अनन्त संसारी होता है।

जो जोडेदि विवाहं किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण॥४५०॥

जो श्रमणवेश धारण करके भी विवाह सम्बन्ध कराता है, खेती, वाणिज्य और जीवघात के कार्यों से जुड़ता है वह पापी नरक में जाता है।

चोराण लाउराण य जुद्ध विवादं च तिव्वकम्मेहिं ।
जंतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवासं॥४५१॥

श्रमणवेश धारण करके भी जो चोरों और लफंगों में युद्ध और विवाद कराता है, तीव्रता से कार्य करता है और यन्त्रों से क्रीड़ा करता रहता है वह नरक में जाता है।

दंसणणाणचरिते तवसंजमणियमणिच्छकम्मम्मि।
पीडयदि वट्टमाणो पावदि लिंगी णरयवासं ॥४५२॥

श्रमणवेश धारण करके भी जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, संयम, नियम और नित्यकर्मों को नियत समय पर करने में दुःख का अनुभव करता है उसे नरक में निवास मिलता है।

कंदप्पाइय वट्टदि करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं।
मायी लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो॥४५३॥

श्रमणवेश धारण करके भी जिसे भोजन में रस और स्वाद की आसक्ति होती है, जो कामभावना/काम सेवन में प्रवृत्त रहता है तथा मायावी और व्यभिचारी है वह पशु है। श्रमण नहीं है।

धावदि पिंडणिमित्तं कलहं कादूण भुञ्जदे पिंडं।
अवरपरूई संतो जिणमग्गि ण होदि सो समणो॥४५४॥

श्रमणवेश धारण करके भी जो आहार के लिए दौड़ लगाता है, परस्पर कलह करते हुए आहार करता है और दूसरों से ईर्ष्या करता है वह जिनमार्गी श्रमण नहीं है।

गिण्हदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं।
जिणलिंगं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो ॥४५५॥

श्रमणवेश धारण करके भी जो बिना दिया दान लेता है, पीठ पीछे परनिन्दा करता है वह श्रमण नहीं है। चोर के समान है।

उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण।
इरियावह धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥४५६॥

जो श्रमणवेश और ईर्यापथ धारण करने के बावजूद रास्ते को शोधकर चलने के स्थान पर दौड़ता हुआ, उछलता हुआ, गिरता पड़ता हुआ चलता है वह पशु है। श्रमण नहीं है।

बधो णिरओ संतो सस्सं खंडेदि तह य वसुहं पि।
छिंददि तरुगण बहुसो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥४५७॥

जो श्रमणवेश धारण करके भी यह नहीं मानता कि वनस्पति की हिंसा से कर्मबन्ध होता है, इसलिए अनाज को कूटता है, वृक्षों को छेदता है, इसी प्रकार भूमि को खोदता है, वह पशु है। श्रमण नहीं है।

रागं करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेदि।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥४५८॥

श्रमणवेश धारण करके भी जो दर्शन और ज्ञान से रहित है और ख़ुद तो महिला वर्ग के प्रति रागग्रस्त रहता है लेकिन दोष दूसरों को लगाता है वह पशु है, श्रमण नहीं है।

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि बट्टदे बहुसो।
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥४५९॥

श्रमणवेश धारण करके भी जो दीक्षारहित गृहस्थों तथा शिष्यों पर बार बार स्नेहवान होता है और आचार एवं विनय से रहित है वह पशु है। श्रमण नहीं है।

एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं।
बहुल पि जाणमाणो भाववविणट्ठो ण सो समणो॥४६०॥

पूर्वोक्त प्रकार की प्रवृत्तियों से युक्त जो तथाकथित श्रमण संयमी मुनिवरों के बीच भी बराबर बना रहता है, बहुत से शास्त्रों को भी जानता है लेकिन भावों से रहित होता है, वह श्रमण नहीं है।

दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देदि वीसट्ठो।
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो॥४६१॥

जो महिलावर्ग को दर्शन, ज्ञान, चारित्र का प्रतिपादन करता हुआ उन्हें विश्वास में ले लेता है वह साफ़ तौर पर पार्श्वस्थ (भ्रष्ट मुनि) से भी गया गुज़रा और ख़तरनाक है। वह भाव से रहित है। वह श्रमण नहीं है।

पुंच्छलिघरि जो भुंजदि णिच्चं संथुणदि पोसए पिंडं।
पावदि बालसहावं भावविणट्ठो ण सो सवणो॥४६२॥

श्रमणवेश धारण करके भी जो व्यभिचारिणी स्त्री के घर आहार ले लेता है, उसकी प्रशंसा करता है और इस प्रकार अपने शरीर का पालन पोषण करता है वह अज्ञानी है। उसके भाव नष्ट हो चुके हैं। वह श्रमण नहीं है।

इय लिंगपाहुडमिणं सव्वंबुद्धेहिं देसियं धम्मं।
पालेइ कट्ठसहियं सो गाहदि उत्तमं ठाणं॥४६३॥

इस प्रकार इस लिंग पाहुड के धर्म का उपदेश सर्वज्ञानियों (गणधर आदि) ने दिया है। जो इसे कष्ट उठाता हुआ बड़े जतन से पालता है उसे मोक्ष मिलता है।

सीलपाहुड
(शीलप्राभृतम्)

वीरं विसालणयण रतुप्पलकोमलस्समप्पायं।
तिविहेण पणमिऊणं सीलगुणाणं णिसामेह ॥४६४॥

भगवान् महावीर को, जिनके नेत्र विशाल हैं और कोमल चरण रक्तकमल के समान हैं, मैं मन वचन काय से नमन करके शील गुणों का वर्णन करता हूँ।

सीलस्स य णाणस्स य जत्थि विरोहो बुधेहिं णिद्दिट्ठो।
णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति ॥४६५ ॥

विद्वानों का मत है कि शील और ज्ञान में आपस में कोई विरोध नहीं है। इतना ज़रूर है कि अगर शील न हो तो इन्द्रियों के विषय ज्ञान को नष्ट कर देते हैं।

दुक्खे णज्जदि णाणं णाणं णादूण भावणा दुक्खं।
भावियमई व जीवो विसयेसु विरज्जए दुक्खं ॥४६६॥

ज्ञान की प्राप्ति मुश्किल से होती है। प्राप्ति हो जाय तो बार-बार अनुभव में लेना मुश्किल से होता है। अनुभव में ले आएं तो उसे इन्द्रिय विषयों में जाने से रोकना मुश्किल से होता है।

दाव ण जाणदि णाणं विसयबलो जाव वट्टए जीवो ।
विसए विरत्तमेतो ण खवेदि पुराइयं कम्मं ॥४६७॥

जीव जब तक विषयों के वशीभूत रहता है तब तक ज्ञान को नहीं जानता और ज्ञान को जाने बिना अकेले विषयों से विरक्त होने मात्र से (जीव के) पूर्व के बँधे हुए कर्मों का क्षय नहीं होता।

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं।
संजमहीणो य तवो जदि चरदि णिरत्थयं सव्वं ॥४६८॥

चरित्रहीन ज्ञान, सम्यग्दर्शन विहीन मुनिवेश और संयम विहीन तप का आचरण करना निरर्थक होता है।

णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्गहण च दंसणविसुद्धं।
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होदि ॥४६९॥

अगर चारित्र से विशुद्ध ज्ञान, दर्शन से विशुद्ध मुनिवेश और संयम से विशुद्ध तप का थोड़ा भी आचरण किया जाता है तो उसका महान फल होता है।

णाणं णादूण णरा केई विसयाइभावसंसता।
हिंडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा ॥४७०॥

ज्ञान को जानकर (प्राप्त करके) भी कुछ व्यक्ति विषयभावों में आसक्त बने रहते हैं। विषयों में आसक्त वे मूढ़ चतुर्गति रूप संसार में ही भटकते रहते हैं।

जे पुण विसयविरता णाणं णादूण भावणासहिदा।
छिंदंति चादुरगदिं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥४७१॥

विषयों से विरक्त और तप तथा गुणों से युक्त जो व्यक्ति ज्ञान को भी प्राप्त कर लेते हैं और उसे बार-बार अपने अनुभव में लेते हुए अपने भाव का विषय बना लेते हैं वे असन्दिग्ध रूप से चतुर्गति रूप संसार का छेदन करते हैं।

जह कंचणं विसुद्धं धम्मइयं खडियलवणलेवेण।
तह जीवो वि विसुद्ध णाणविसलिलेण विमलेण ॥४७२॥

जैसे नमक और सुहागे के लेप से सोना शुद्ध होता है वैसे ही जीव भी ज्ञान रूपी निर्मल जल से शुद्ध होता है।

णाणस्स णत्थि दोसो कुप्पुरिसाणं वि मंदबुद्धीणं।
जे णाणगव्विदा होदूणं विसएसु रज्जंति ॥४७३॥

अगर कोई व्यक्ति ज्ञान से गर्वित होकर भी विषयों में रमता है तो इसमें ज्ञान का दोष नहीं है। उस मूर्ख कुपुरुष का ही दोष है।

णाणेण दंसणेण य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
होहदिं परिणिव्वाणं जीवाण चरित्तसुद्धाणं ॥४७४ ॥

ज्ञान, दर्शन और तप को सम्यक्त्व के साथ चारित्र में ढाला जाय तो ऐसे चारित्र से शुद्ध हुए जीवों को निर्वाण की प्राप्ति होती है।

सीलं रक्खंताणं दंसणसुद्धाण दिढचरित्ताणं।
अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥४७५ ॥

जिन व्यक्तियों का चित्त विषयों से विरक्त है, जो शील की रक्षा करते हैं और दर्शन से शुद्ध तथा चारित्र से दृढ़ हैं वे निश्चित रूप से निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

विसएसु मोहिदाणं कहियं मग्गं पि इट्ठदरिसीणं।
उम्मग्गं दरिसीणं णाणं पि णिरत्थयं तेसिं ॥४७६॥

विषयों में आसक्त व्यक्ति अगर सन्मार्ग दिखाने वाले हों तो उनके लिए फिर भी रास्ता है, फिर भी उनकी सार्थकता है। लेकिन कुमार्ग दिखाने वालों के लिए तो ज्ञानी होने का कोई अर्थ ही नहीं है।

कुमयकुसुदपसंसा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
सीलवदणाणरहिदा ण हु ते आराधया होंति ॥४७७ ॥

कुमत और कुशास्त्रों के प्रशंसक भले ही बहुत प्रकार के शास्त्रों को जानते हों लेकिन वास्तव में वे शीलव्रत और ज्ञान से रहित हैं। वे शीलव्रत और ज्ञान के आराधक नहीं हैं।

रूवसिरिगव्विदाणं जुव्वणलावण्णकंतिकलिदाणं।
सीलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्म॥४७८॥

व्यक्ति भले ही रूप, शोभा, यौवन, लावण्य और कान्ति से मण्डित हो लेकिन अगर शीलगुण से रहित है तो उसका मनुष्य जन्म लेना निरर्थक है।

वायरणछंदवइसेसियववहारणायसत्थेसु।
वेदेऊण सुदेसु य तेसु सुयं उत्तमं सीलं॥४७९॥

व्याकरण, छन्द, वैशेषिक, व्यवहार शास्त्र, न्यायशास्त्र और यहाँ तक कि जिनागम के ज्ञान से भी शील बड़ा है।

सीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लहा होंति।
सुदपारयपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए॥४८०॥

शील गुण से शोभित भव्य जीव देवताओं को भी प्रिय होते हैं। इसके विपरीत शास्त्रों में पारंगत लेकिन शील से रहित व्यक्ति लोक में भी न्यून बने रहते हैं। अर्थात् वे मनुष्यों के भी प्रिय नहीं होते।

सव्वेविय परिहीणा रूवविरूवा वि पडिदसुवया वि ।
सीलं जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं॥४८१॥

जो व्यक्ति सब प्राणियों में हीन हैं, सौन्दर्य में भी गए गुज़रे हैं और जिनकी उम्र भी अतिशय ढलान पर है लेकिन अगर उनका शील उत्तम है तो वे जीवन्त हैं। उनका मनुष्य जीवन सार्थक है।

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे ।
सम्मद्दंसण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो ॥४८२॥

जीव दया, इन्द्रियनिग्रह, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप-यह शील का परिवार है।

सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य ।
सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोवाणं ॥४८३॥

शील ही तप की निर्मलता है, शील ही दर्शन की शुद्धता है, शील ही ज्ञान की विशुद्धता है, शील ही इन्द्रिय विषयों का शत्रु है और शील ही मोक्ष की सीढ़ी है।

जह विसयलुद्ध विसदो तह थावरजंगमाण घोराणं ।
सव्वेसिं पि विणासदि विसयविसं दारूणं होदि ॥४८४॥

जैसे विषयलुब्ध जीव को विषय रूपी विष नष्ट करता है वैसे ही तमाम बड़े-बड़े स्थावर जंगम अस्तित्वों को भी विष ही नष्ट करता है। लेकिन विषय रूपी विष सभी विषों में सबसे दारुण है।

वारि एक्कम्मि य जम्मे मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो।
विसयविसपरिहया णं भमंति संसारकंतारे ॥४८५॥

विष की वेदना से आहत जीव एक जन्म में एक ही बार मरता है। लेकिन विषयविष से मृत जीव को तो संसार रूपी वन में सदैव परिभ्रमण करना पड़ता है। बार बार जन्म लेना और मरना पड़ता है।

णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणवेसु दुक्खाइं।
देवेसु वि दोहग्गं लहंति विसयासिया जीवा॥४८६॥

विषयों में आसक्त जीव नरकों के कष्ट, तिर्यञ्चों और मनुष्यों के दुःख तथा देवों के भी दुर्भाग्यों को झेलने के लिए अभिशप्त होते हैं। वे चारों गतियों में दुःख पाते हैं।

तुसधम्मतबलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि।
तवसीलमत कुसली खवंति विसयं विस व खलं ॥४८७॥

जैसे तुषों (भूसी) को उड़ा देने से मनुष्य का कुछ भी मूल्यवान नहीं जाता वैसे ही तपस्वी, शीलवान और कुशल मनुष्य अगर विषयों के विष को तुष की तरह उड़ा दे तो उसका भी कुछ नहीं जाता।

वट्टेसु य खंडेसु य भद्देसु य विसालेसु अंगेसु।
अंगेसु य पप्पेसु य सव्वेसु य उत्तमं सीलं॥४८८॥

जीव को अपनी देह में कई सुघट, वृत्ताकार, कई सुन्दर अर्द्धवृत्ताकार, कई बेहद सरल और कई विशाल चौड़े अंग मिले हैं। लेकिन इन सभी में सबसे उत्तम शील ही है।

पुरिसेण वि सहियाए कुसमयमूढेहि विसयलोलेहिं ।
संसारे भमिदव्वं अरयघरट्टं व भूदेहिं॥४८९॥

कुसमय (कुमति) से मूढ़ बने हुए विषयलोलुप व्यक्ति संसार में रहट की घड़ियों की तरह खुद तो भ्रमण करते ही हैं दूसरों को भी उनके साथ भ्रमण करना पड़ता है।

आदेहि कम्मगंठी जा बद्धा विसयरागरंगेहिं।
तं छिंदंति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ॥४९०॥

विषयों के रागरंग से आत्मा में बँधी हुई कर्म की गाँठ को कृतार्थ (श्रेष्ठ) व्यक्ति तप, संयम और शील से प्राप्त हुए गुण के द्वारा खोलते हैं।

उदधी व रदणभरिदो तवविणयंसीलदाणरयणाणं।
सोहेंतो य ससीलो णिव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥४९१॥

समुद्र कितना ही रत्नों से भरा हुआ हो, पर वह जल से ही शोभा पाता है। इसी तरह तप, विनय, दान आदि रत्नों से भरी हुई आत्मा शील से ही शोभा पाती है और निर्वाण को, निर्वाण जिससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है, प्राप्त करती है।

सुणहाण गद्दहाण य गोवसुमहिलाण दीसदे मोक्खो।
जे सोधंति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहिं ॥४९२॥

श्वान, गर्दभ, गाय आदि पशु तथा स्त्री को मोक्ष होता देखा गया है क्या ? वस्तुतः मोक्ष उन्हें ही होता देखा गया है जिन्हें चौथे पुरुषार्थ की तलाश होती है।

जइ विसयलोलएहिं णाणीहि हविज्ज साहिदो मोक्खो।
तो सो सच्चइपुतो दसपुव्वीओ वि किं गदो णरयं ॥४९३॥

यदि विषयलोलुप ज्ञानियों को मोक्ष मिलना सम्भव होता तो दस पूर्वजन्मों का ज्ञाता सात्यकि पुत्र (रुद्र) नरक क्यों गया होता ?

जइ णाणेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहिं णिद्दिट्ठो।
दसपुव्वियस्स भावो य ण किं पुणु णिम्मलो जादो ॥४९४॥

अगर विद्वानों ने शील के बिना कोरे ज्ञान से ही भाव का निर्मल होना बताया होता तो दस पूर्व जन्मों के ज्ञाता रुद्र का भाव क्यों निर्मल नहीं हुआ होता ?

जाए विसयविरतो सो गमयदि णरयवेयणा पउरा।
ता लेहदि अरुहपयं भणिद जिणवड्ढमाणेण ॥४९५॥

जो जीव नरक में होते हुए भी विषयों से विरक्त होता है उसकी नरकवेदना कम हो जाती है और वर्द्धमान जिनेन्द्र भगवान् तो यहाँ तक कहते हैं कि वह नरक से निकलकर तीर्थंकर पद भी पा सकता है।

एवं बहुप्पयारं जिणेहि पच्चक्खणाणदरसीहिं।
सीलेण य मोक्खपयं अक्खातीदं य लोयणाणेहिं ॥४९६॥

इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान, दर्शन के धंनी और लोकालोक के ज्ञाता जिनेन्द्र भगवान् बहुत प्रकार से कहते हैं कि शील से व्यक्ति को मोक्षपद, जो इन्द्रियातीत ज्ञानसुख का भण्डार है, प्राप्त होता है।

सम्मतणाणदंसणतववीरियपंचयारमप्पाणं।
जलणो वि पवणसहिदो डहंति पोरायणं कम्मं ॥४९७॥

सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, तप और वीर्य (शक्ति) ये पाँच आचार आत्मा का आश्रय पाकर पुराने कर्मों को ऐसे ही जलाकर भस्म कर देते हैं जैसे आग तेज़ हवा में पुराने ईंधन को जलाकर राख कर देती है।

णिद्दड्ढअट्ठकम्मा विसयविरता जिदिंदिया धीरा।
तवविणयसीलसहिदा सिद्धा सिद्धिं गदिं पत्ता ॥४९८॥

आठ कर्मों को जला चुकने वाले, विषयों से विरक्त, जितेन्द्रिय, धैर्यशाली और तप, विनय, शील के धनी जीव तो मोक्ष को प्राप्त कर चुके सिद्ध हैं।

लावण्णसीलकुसलो जम्ममहीरुहो जस्स सवणस्स।
सो सीलो स महप्पा भमिज्ज गुणवित्थरं भविए॥४९९॥

जिस मुनि के जन्म रूपी वृक्ष को लावण्य और शील ने कुशल बना दिया है वह शीलवान और महात्मा है। उसके गुणों का विस्तार पूरे संसार में होता है।

णाणं झाणं जोगो दंसणसुद्धीय वीरियायतं।
सम्मतदंसणेण य लहंति जिणसासणे बोहिं॥५००॥

ज्ञान, ध्यान, योग और दर्शन की शुद्धता तो शक्ति पर निर्भर है। लेकिन जिन शासन के अनुसार बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति तो सम्यग्दर्शन से हो जाती है।

जिणवयणगहिदसारा विसयविरता तवोधणा धीरा।
सीलसलिलेण ण्हादा ते सिद्धालयसुहं जंति॥५०१॥

जिनेन्द्र भगवान् के वचनों के सार को हृदयंगम करने वाले, विषयों से विरक्त, तपोधन और धैर्यशाली मुनि शील के जल में स्नान करके ही सिद्धालय (सिद्धों का निवास स्थल) का सुख प्राप्त करते हैं।

सव्वगुणखीणकम्मा सुहदुक्खविवज्जिदा मणविसुद्धा।
पप्फोडियकम्मरया हवंति आराहणापयडा ॥५०२॥

समस्त गुणों (मूल गुण और उत्तर गुण) की सहायता से कर्मों का क्षय करना, सुख दुःख से परे होने की स्थिति, विशुद्ध मन की प्राप्ति और कर्मों की धूल उड़ा देना- यह आराधना का सम्पूर्णता में प्रकट होना है।

अरहंते सुहभत्ती सम्मतं दंसणेण सुविसुद्धं।
सीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणिद॥५०३॥

अरिहन्त के प्रति शुभ भक्ति ही दर्शन से विशुद्ध सम्यक्त्व है। विषयों से विरक्त होना ही शील है। वही ज्ञान भी है। अन्यथा ज्ञान और किसे कहते हैं ?

विशेष शब्द

अनन्त चतुष्टय : केवली में केवल ज्ञान, केवल दर्शन, केवल सुख और केवल शक्ति की अनन्तता के कारण इन चारों को अनन्त चतुष्टय कहकर संकेतित किया जाता है।

अरिहन्त के एक हज़ार आठ लक्षण : श्री वृक्ष, शंख, कमल, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चमर, सफ़ेद छत्र, सिंहासन, पताका, दो मीन, दो कुम्भ, कच्छप, चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, हाथी, सूर्य, चन्द्र फल सहित उपवन, पृथ्वी, लक्ष्मी, सरस्वती, स्वर्ण, कल्पलता, आठ प्रातिहार्य, आठ मंगल द्रव्य आदि एक सौ आठ लक्षण और मसूरिया आदि नौ सौ व्यंजन इस प्रकार कुल १००८ लक्षण अरिहन्त के शरीर में विद्यमान होते हैं।

आठ प्रातिहार्य : अशोक वृक्ष, तीन छत्र, रत्नखचित सिंहासन, भक्तियुक्त गणों से वेष्टित होना, दुन्दुभिनाद, पुष्पवृष्टि, भामण्डल (प्रभामण्डल) और चौंसठ चमर युक्तता।

आठ प्रकार के कर्म : ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अन्तराय और वेदनीय, आयु, नाम, तथा गोत्र।

आरम्भ : नौकरी, खेती, व्यापार आदि सावद्य कर्म।

आहार के छियालीस दोष : उद्गम, उत्पादन, अशन, प्रमाण, संयोजन, अंगार अथवा आगार और धूम के तहत उद्गम दोष के औद्देशिक आदि सोलह, उत्पादन दोष के धात्री आदि सोलह, अशन दोष के शंकित आदि दस भेद और प्रमाण, संयोजन (ठण्डे भोजन में गरम जल या गरम भोजन में ठण्डा जल मिलाना) अंगार (तृष्णापूर्वक आहार करना) तथा धूम (ग्लानिपूर्वक आहार करना) ये चार दोष।

ईर्या समिति : दिन में चार हाथ प्रमाण देखकर इस प्रकार चलना ताकि प्राणियों को पीड़ा न पहुँचे।

उपगूहन : शुद्ध मोक्ष मार्ग का पथिक भी अज्ञान अथवा असमर्थतावश

कोई भूल कर सकता है। उसकी भूल को, उसकी दोषदृष्टि को दूर करना।

गारव (गौरव) के तीन प्रकार : शब्द गारव (वर्ण के उच्चारण का गर्व), वृद्धि गारव (शिष्य, पुस्तक, कमण्डल, पिच्छी आदि के बल पर अपने को ऊँचा समझना/ऊँचा प्रकट करना) और सात गारव (भोजन, पान आदि से उत्पन्न सुख में मस्त होकर मोह मद से ग्रस्त रहना)

चार गतियाँ : देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरकगति।

चार प्रकार का बाह्य मुनित्व : १. अचेलकत्व २. सिर और दाढ़ी, मूँछों के बालों का लोंच, ३. शरीर संस्कार का त्याग ४. मयूर पिच्छिका रखना।

चार शरण : अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवली प्रणीत धर्म।

चौदह गुणस्थान : मोह और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के कारण जीव के अन्तरंग परिणामों में प्रतिक्षण होने वाले उतार चढ़ाव को गुणस्थान कहा गया है। इनकी चौदह श्रेणियाँ मानी गई हैं मिथ्या दृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्या दृष्टि यानी मिश्र, असंयत अथवा अविरत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत अथवा देशविरत, प्रमत्त संयत अथवा प्रमत्तविरत, अप्रमत्त क्षमता, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म साम्पराय, उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय, सयोग केवली, अयोग केवली।

चौदह जीव समास : जिन गुणों / भावों में जीव रहते हैं उन्हें जीव समास कहते हैं। इनके कई प्रकार से कई भेद हैं। स्थावर जीवों के वादर–सूक्ष्म के आधार पर दस और त्रस जीवों के दो, तीन, चार, पाँच इन्द्रिय ये चार भेद/ इस प्रकार कुल चौदह भेद।

चौंतीस अतिशय : जिनेन्द्र भगवान के चौंतीस अतिशयों में से दस तो उनके जन्म से ही होते हैं-

१. निस्वेदता, २. निर्मलता, ३. श्वेत रुधिरता, ४. समचतुरस्र संस्थान, ५. वज्र वृषभ नाराच संहनन, ६. सुरूपता, ७. सुगन्धितता, ८. सुलक्षणता, ९. अतुलवीर्य, १०. हितमित वचन।

ग्यारह अतिशय घाति कर्मों के क्षय होने पर होते हैं-

१. शतयोजन सुभिक्षता, २. आकाशगमन, ३. प्राणिवध अभाव, ४. कवलाहार अभाव, ५. उपसर्ग अभाव, ६. चतुर्मुखत्व, ७. सर्वविद्याप्रभुत्व, ८. छायारहितत्व, ९. लोचन निस्पन्दन रहितत्व, १०. केशनखवृद्धि रहितत्व, ११. अठारह महाभाषाओं से युक्त दिव्य ध्वनि।

१. सर्वजीव मैत्रीभाव, २. सर्वऋतु फल पुष्प, ३. पृथ्वी का दर्पणवत् होना, ४. मंद सुगन्धित हवा का चलना, ५. सम्पूर्ण संसार में आनन्द का संचार, ६. भूमि का कंटकादि से रहित होना, ७. देवों द्वारा गन्धोदक वर्षा, ८. विहार के समय देवों द्वारा चरणकमलों के नीचे स्वर्णकमलों की रचना, ९. भूमि का धनधान्य निष्पत्ति सहित होना, १०. दिशाओं और आकाश का निर्मल होना, ११. देवों का आह्वान शब्द होना, १२. धर्मचक्र का आगे चलना, १३. अष्ट मंगल द्रव्यों का होना। इस प्रकार १०+११+१३=३४ अतिशय

छह संहनन वाले जीव : हड्डियों के बन्धन को, उनके संचय और जोड़ को संहनन कहते हैं। इसके आधार पर जीवों के छह भेद माने गए हैं- वज्रवृषभ नाराच, वज्रनाराच, सनाराच, अर्द्धनाराच, कीलक शरीर संहनन और असम्प्राप्ता सृपाटिका।

छह द्रव्य : जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

छह अनायतन : मिथ्या देव, मिथ्या देवों के सेवक, मिथ्या तप, मिथ्या तपस्वी, मिथ्या शास्त्र और मिथ्या शास्त्रों के धारक।

तीन गुप्तियाँ : संसार के कारणों से आत्मा की रक्षा करने वाली मन, वचन और काय की गुप्ति।

तेरह प्रकार की क्रियाएं : पंच परमेष्ठी को नमस्कार की पाँच क्रियाएं, छह आवश्यक क्रियाएं, एक निषिधिका (जिन मन्दिर में प्रवेश के वक्त आज्ञार्थ निःसही शब्द तीन बार बोलना अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र में स्थिर रहने के लिए निःसही कहना) क्रिया और एक आसिका (जिन मन्दिर से बाहर आते वक्त विदा के लिए अनुमति हेतु, विनयपूर्वक आसिका शब्द बोलना अथवा पापों से मन मोड़ने को आसिका कहना) क्रिया। इस प्रकार कुल तेरह क्रियाएं।

दस प्रकार के अब्रह्म : १. स्त्री सम्बन्धी विषयों की अभिलाषा, २. वत्थिमोक्खो अर्थात् इन्द्रिय में विकार होना, ३. पौष्टिक आहार, ४. स्त्री स्पर्श अथवा उसकी शैया आदि का सम्पर्क, ५. स्त्री के सुन्दर शरीर का अवलोकन, ६. स्त्री सत्कार, ७. स्त्री सम्मान, ८. अतीत के भोगों का स्मरण, ९. अनागत अभिलाष (भविष्य की इच्छाएं), १०. इष्ट विषय सेवन (मनोवांछित सौध, उद्यान आदि का उपयोग करना)।

नौ पदार्थ : जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आम्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य : जो मुनि स्त्री संग का त्याग करता है उसी के मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदन के भेद से नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य।

नौ नोकषाय : हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद।

पाँच अस्तिकाय : काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य। ये पाँच ही अधिक प्रमाण के होने के कारण कायवान हैं।

पाँच महाव्रत : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य।

पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएं :

अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाएं : वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान निक्षेपण समिति और अवलोकित भोजनपान (देख शोध कर भोजनपान ग्रहण करना।

सत्य महाव्रत की पाँच भावनाएं : क्रोध प्रत्याख्यान, लोभ-प्रत्याख्यान, भीरुत्व प्रत्याख्यान, हास्य प्रत्याख्यान और अनुवीची भाषण।

अस्तेय महाव्रत की पाँच भावनाएं : वस्तु को उसके स्वामी की अनुज्ञा के बिना ग्रहण न करना, अनुज्ञा से गृहीत में भी आसक्ति नहीं रखना, प्रयोजन बताते हुए वस्तु माँगना, यह भावना न होना कि देने वाला दे रहा है तो सब की सब ले लूँ और ज्ञान चारित्र के लिए उपयोगी वस्तु ही ग्रहण करना।

अपरिग्रह महाव्रत की पाँच भावनाएं : शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध

इन पाँच विषयों में रागद्वेष का न होना।

ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनाएं : स्त्रियों के अंग देखने का त्याग, पूर्व भोगों को याद न करना, स्त्रियाँ जहाँ रहती हों वहाँ न रहना, शृंगार कथा कहने/करने/सुनने का त्याग और पौष्टिक भोजन करने का त्याग।

पाँच समितियाँ : ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और प्रतिष्ठापना।

पाँच प्रकार का विनय : लोकानुवृत्ति, अर्थनिमित्तक, कामतंत्र, भय और मोक्षविनय ।

अथवा

ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय।

उपचार विनय के तहत-

मुनि को आता देख आसन से उठना, कायोत्सर्ग आदि कृतिकर्म करना, जुड़े हाथों को अपने माथे पर रखकर नमन करना, उनके सामने जाना, अनुकूल वचन कहना।

बाईस परिषह : मार्ग से च्युत न होने और कर्मों की निर्जरा के लिए जिन्हें सहन करना होता है उन्हें परिषह कहते हैं। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, मशक दंश, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषधा, शैया, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन।

बारह प्रकार के तप : अनशन, अवमौदार्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शैयासन, कायक्लेश, ये छह बाह्य तप। और

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान-ये छह आभ्यन्तर तप।

बारह अनुप्रेक्षाएं : अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म।

मार्गणा स्थान : मार्गणा का अर्थ है अन्वेषण/खोजना/गवेषणा जिनके द्वारा चौदह गुणस्थानों का अन्वेषण किया जाता है उन्हें मार्गणा कहते हैं। इनकी संख्या भी चौदह है-गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान,

दर्शन, संयम, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारक।

रक्षण : धर्मात्मा को धर्म से डिगता देखकर उसे धर्म में स्थिर करना। स्थितिकरण।

वस्त्र के पाँच प्रकार : अण्डज अर्थात् रेशम से बना, बोंडुज अर्थात् कपास से बना, रोमज अर्थात् ऊन से बना, वल्कलज अर्थात् वृक्ष की छाल से बना और चर्मज अर्थात् पशुओं के चर्म से बना।

वैयावृत्त्य के दस भेद : आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष (शिष्य), ग्लान (रोगी), गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इनकी वैयावृत्ति के भेद से वैयावृत्त्य (गुणी व्यक्ति के दुःख में उसकी सेवा करना) के दस भेद।

षट्काय जीव : स्थावर जीवों के पाँच (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति काय प्रकार) तथा त्रस जीव। इस प्रकार काया की दृष्टि से षट्काय जीव।

सात तत्त्व : जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

गाथानुक्रमणिका

गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.
अ	
अइसोहणजोएणं	३५७
अक्खाणि बाहिरप्पा	३४०
अच्चेयणं पि चेदा	३९३
अज्ज वि तिरियणसुद्धा	४१२
अण्णाणं मिच्छत्तं	७८
अण्णं व वसिट्ठ मुणि	२१६
अण्णे कुमरणमरणं	२०२
अपरिग्गह समणुण्णेसु	९९
अप्पा अप्पम्मि रओ	२०१
अप्पा अप्पम्मि रओ	२५५
अप्पा चरित्तवंतो	३९९
अप्पा झायंताणं	४०५
अप्पा णाऊण णरा	४०२
अमुण्णे य मणुण्णे	९२
अमराण वंदियाण	२५
अयसाण भायणेण य	२३९
अरसमरूवमगंध	२३४
अरहंतभासियत्थ	३७
अरंहतेण सुदिट्ठं	११२
अरहंते सुहभत्ती	५०३
अरूहा सिद्धायरिया	४३९
अवरो वि दव्वसवणो	२२०
अवसेसा जे लिंगी	४९
असियसय किरियवाई	३०७
असुईवीहत्थेहि य	१८७
अस्मजदं ण वंदे -	२६
अह पुण अप्पा णिच्छदि	५१
अह पुण अप्पा णिच्छदि	२५६
आ	
आगंतुक माणसियं	१८१
आदसहावादण्णं	३५२
आदा खु मज्झ णाणे-	२२८
आदेहि कम्मगंठी -	४९०
आयदणं चेदिहरं	१११
आरूहवि अंतरप्पा -	३४२
आहारभयपरिग्गह -	२८२
आहारासणणिद्दाजयं-	३९८
आहारोय सरीरो	१४२
आसवहेदू य तहा	३९०
इ	
इच्छायार महत्थं	५०
इड्ढिमतुलं विउव्विय	३००
इय धाइकम्ममुक्को	३२२
इय उवएस सारं	३७५
इय जाणिऊण जोई-	३६७
इय णाउं गुणदोसं -	३१७
इय णाऊण खमागुण-	२७९
इय तिरिय मणुयजम्मे-	१९७
इय भावपाहुडमिणं-	३३५
इय मिच्छत्तावासे -	३११
इय लिंगपाहुडमिणं -	४६३
इरियामासाएसण-	१००
उ	
उक्किसीहचरिय -	४५
उग्गतवेणण्णाणी-	३८८
उच्छाहभावणा-	७६
उच्छाहभावणा-	७७
उत्तममज्झिमगेहे-	१५६
उत्थरइ जा ण जरओ-	३०२
उद्धद्धमज्झलोये	४१६
उदधी व रदणभरिदो-	४९१
उप्पडदि पडदि धावदि -	४५६
उवसग्गपरिसहसहा-	१६४

गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.
उवसमखमदमजुत्ता -	१६०
ए	
एएण कारणेणे य -	५२
एएण कारणेण य -	२५७
एए तिण्णि वि भावा-	६७
एए तिण्णि वि भावा-	८२
एएहिं लक्खणेहिं य-	७५
एक्केक्कंगुलिवाही-	२०७
एगो मे सस्स्दो अप्पा-	२२६
एगं जिणस्सरूवं -	१८
एरिसगुणेहिं सव्वं-	१४७
एवं आयत्तणगुण-	१६७
एवं चिय णाऊण य-	६६
एवं जिणपण्णत्तं-	२१
एवं जिणपण्णत्तं -	४४१
एवं जिणेहि कहियं-	४२०
एवं बहुप्पयारं -	४६६
एवं सहिओ मुणिवर-	४६०
एवं सावयधम्मं -	६०
एवं संखेवेण य-	१०७
क	
कत्ता भोइ अमुत्तो-	३१८
कलहं वादं जूआ-	४४७
कल्लाणापरम्परया-	३३
काऊण णमुक्कारं -	१
काऊण णमोकार -	४४२
कालमणंतं जीवो-	२०४
किं काहिदि बहिकम्मं-	४३४
किं जंपिएण बहुणा-	३३४
किं पुण गच्छइ मोहं-	३०१
किं बहुणा भणिएणं -	४२३
कुच्छियदेव धम्मं-	४२७
कुच्छियधम्मम्मि रओ-	३१०
कुमयकुसुदपसंसा-	४७७
केवलिजिणपण्णत्तं -	२२२
कोहभयहासलोहा-	६६
कंदप्पमाइयाओ-	१८३
कंदप्पाइय वट्टइ-	४५३
कंदं मूलं बीयं -	२७३
ख	
खणणुत्तावणवालण-	१८०
खयरामरमणुयकर-	२४५
ग	
गइ इंदियं च काये-	१४१
गसियाइं पुग्गलाइं-	१६२
गहिउज्झियाइं मुणिवर-	१६४
गहिऊण य सम्मत्तं-	४२१
गाहेण अप्पगाहा -	६३
गिण्हदि अदत्तदाणं-	४५५
गिहगंथमोहमुक्का-	१५३
गुणगणमणिमालाए-	३३०
गुणगणविहूसियंगो-	४३७
गुणाठाणमग्गणेहिं य-	१३६
च	
चउविहविकहासत्तो-	१८६
चउसट्ठिचमरसहिओ-	२६
चक्कहररामकेसव-	३३१
चरणं हवइ सधम्मो-	३८५
चरियावरिया वदसमिदि-	४०८
चारित्तसमारूढ़ो -	१०६
चित्तासोहि ण तेसि-	६२
चेइय बंधं मोक्ख-	११७
चोराण लाउराण य-	४५१
छ	
छज्जीव छडायदण-	३०३
छत्तीस तिण्णि सया-	१६८

गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.
छह दव्व णव पयत्था-	१९
छायालदोसदूसिय-	२७१
ज	
जइ णाणेण विसोहो -	४९४
जइ दंसणेण सुद्धा-	६१
जइ विसयलोलएहि-	४९३
जरवाहि जम्ममरणं-	१३८
जरवाहि दुक्खरहिय-	१४५
जलथलसिहिपवणंबर-	१९१
जस्सपरिग्गहगहणं-	५५
जदि पढदि बहू-	४३५
जह कंचणं विशुद्ध-	४७२
जहजायरूवरूवं -	४२६
जहजायरूवसरिसा-	१५९
जहजायरूवसरिसो-	५४
जह ण वि लहदि हु लक्खं-	१२९
जह तारयाण चंदो-	३१४
जह तारायणसहियं-	३१६
जह दीवो गब्भहरे-	२९३
जहपत्थरो ण भिज्जइ-	२६५
जह फणिराओ सोहइ-	३१५
जह फलिहमणि विसुद्धो -	३८६
जह फुल्लं गंधमयं-	१२३
जह मूलम्मि विणट्ठे-	१०
जह मूलाओ खंधो-	११
जह रहणाणं पवरं-	२५२
जह विसयलुल्द विसदो-	४८४
जह बीयम्मि य दड्ढे-	२९६
जह सलिलेण ण लिप्पइ-	३२४
जाए विसय विरत्तो-	४९५
जाणहि भावं पढम-	१७६
जाव ण भावइ तच्चं -	२८५
जिणणाणदिट्ठिसुद्धं-	६८

गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.
जिणबिंबं णाणमयं -	१२४
जिणमग्गे पव्वज्जा-	१६२
जिणमुद्दं सिद्धिसुहं -	३८२
जिणवयणमोसहमिणं-	१७
जिणिवयणगहिसदसारा-	५०१
जिणवरचरणंबुरुहं -	३२३
जिणवरमएण जोई-	३५५
जीवविमुक्को सबओ-	३१३
जीवाजीवविभत्ती-	१०२
जीवाजीवविहत्ती-	३७६
जीवाणमभयदाणं-	३०६
जीवादीसद्दहणं -	२०
जीवो जिणपण्णत्तो-	२३२
जीवदया दम सच्चं-	४८२
जे के वि दव्वसवणा-	२९२
जे झायंति सदव्वं-	३५४
जेण रागो परे दव्वे-	४०६
जे दंसणेसु भट्ठा णाणे-	८
जे दंसणेसु भट्ठा पाए-	१२
जे पावमोहियमई-	४१३
जे वि पडंति य तेसिं -	१३
जे पुण विसयविरत्ता-	४०३
जे पुण विसयविरत्ता-	४७१
जे पंचचेलसत्ता-	४१४
जे रायसंगजुत्ता-	२४२
जे बावीसपरीसह-	४८
जेसिं जीवसहावो-	२३३
जो इच्छइ णिस्सरिहुं-	३६१
जो कम्मजादमइओ-	३९१
जो कोडिए ण जिप्पइ-	३५७
जो को वि धम्मसीलो-	९
जो जाइ जोयणसयं-	३५६
जो जीवो भवंतो -	२३१

गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.
जो जोडेदि विवाहं-	४५०
जो देहे णिरवेक्खो-	३४७
जो पावमोहिदमदी-	४४४
जो पुण परदव्वरओ-	३५०
जो रयणत्तयजुत्तो-	३७८
सो सुत्तो ववहारे-	३६६
जो संजमेसु सहिओ-	४७
जं किंचि कयं दोसं-	२७६
जं चरदि शुद्ध चरणं-	११९
जं जाणइ तं णाणं-	६६
जं जाणइ तं णाण-	३७२
जं जाणिऊण जोई-	३३८
जं जाणिऊण जोई-	३७७
जं णिम्मलं सुधम्मं-	१३५
जं मया दिस्सदे रूवं-	३६४
जं सक्कइ तं कीरइ-	२२
ज सुत्तं जिणउत्तं -	४२
झ	
झायहि धम्मं सुक्कं-	२९१
झायहि पंच वि गुरवे-	२९४
ण	
णग्गत्तणं अकज्ज -	२२५
णग्गो पावइ दुक्खं-	२३८
णच्चदि गायदि तावं-	४४५
णमिऊण जिणवरिंदे-	१७१
णमिऊण य तं देवं-	३३७
ण मुयइ पयडि अभव्वो -	३०८
णरएसु वेयणाओ-	४८६
णवणोकसायवग्गं-	२६१
णवविहबभ पयडहि -	२६८
णविएहिं ज णविज्जइ-	४३८
णवि देहो वंदिज्जइ-	२७
ण वि सिज्झदि वत्थधरो-	५९

गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.
णाणगुणेहिं विहीणा-	१०५
णाणमय विमलसीयल	२९५
णाणमयं अप्पाणं-	३३६
णाणम्मि दंसणम्मि य-	३२
णाणस्स णत्थि दोसो-	४७३
णाणावरणदीहिं-	२८९
णाणी सिवपरमेट्ठी-	३२१
णाणेण दंसणेण य-	३०
णाणेण दंसणेण य-	४७४
णाणं चरित्तसुद्ध-	४६९
णाणं चरित्तहीणं-	४६८
णाणं चरित्तहीणं-	३९२
णाणं झाणं जोगो-	५००
णाणं णरस्स सारो-	३१
णाणं णाऊण णरा-	४७०
णाणं दंसण सम्मं-	६५
णाणं पुरिसस्त हवदि-	१३०
णामे ठवणे हि य संदव्वे-	१३६
णिग्गंथमोहमुक्का-	४१५
णिग्गंथा णिस्संगा-	१५७
णिच्चेल पाणिपत्तं-	४६
णिच्छयणयस्स एवं	४१८
सिण्णेहा णिल्लोहा-	१५८
णिंदाए य पसंसाए-	४०७
णियदेहसरिच्छं -	३४४
णियसत्तीए महाजस-	२७५
णिरूवममचलमखोहा-	१२१
णिस्संकिय णिक्कंखिय-	७०
णिद्दड्ढअट्ठकम्मा -	४९८
त	
तच्चरुई सम्मत्तं -	३७३
तवरहियं जं णाणं-	३९४
तववयगुणेहिं सुद्धो-	१२६
तववयगुणेहिं सुद्धा-	१६६

गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.
तव्विवरीओ बंधइ-	२८८
तस्स य करह पणामं-	१२५
ताम ण णज्जइ अप्पा-	४०१
ताव ण जाणादि णाणं-	४६७
तित्थयरगणहराइं-	२९८
तित्थयरभासियत्थं-	२६२
तिपयारो सो अप्पा-	३३९
तिलतुसमत्तणिमित्तं-	१६३
तिहितिण्णि धरवि णिच्चं-	३७९
तिहुयणसलिलं सयलं-	१९३
तुसमासं घोसंतो-	२२३
तुस धम्मंत बलेण य-	४८७
तुह मरणे दुक्खेणं-	१८९
ते धण्णा ताण णमो-	२९९
ते धण्णा सुकयत्था-	४२४
ते धीरवीर पुरिसा-	३२६
ते मे तिहुवणमहिया-	३३३
तेयाला तिण्णि सया-	२०६
तेरहमे गुणाठाणे-	१४०
ते रोया वि य सयला-	२०८
ते च्चिय भणामि हं जे-	३२५
तं चेव गुण विशुद्धं-	७१
थ	
थूले तसकायवहे-	८७
द	
दढसंजममुद्दाए-	१२७
दव्वेण सयल णग्गा-	२३७
दस दस दोसुपरीसह-	२६४
दस पाणा पज्जती-	१४६
दसविहपाणाहारो-	३०४
दिक्खाकालाईयं-	२८०
दियसंगट्ठियमसणं-	२१०
दिसिविदिसिमाणपढमं-	८८
दुइयं च उत्त लिगं-	५७
दुक्खे णज्जइ अप्पा-	४००
दुक्खेणज्जदि णाणं-	४६६
दुज्जणवयण चडक्कं-	२७७
दुट्ठट्ठकम्मरहियं -	३५३
दुविहं पि गंथचायं-	१४
दुविहं संजमचरणं-	८४
देव गुरुम्मि य भत्तो-	३८७
देवगुरुणं भत्ता-	४१७
देवाणगुणविहूई-	१८५
देहादिचत्तसंगो-	२१४
देहादिसंगरहिओ-	२२६
दंडयणयरं सयल-	२१९
दसणअणंतणाणं-	१२०
दंसणअणंतणाणे-	१३७
दंसणणाणचरित्ते-	२३
दंसणणाणचरित्ते-	४४९
दंसणणाणचरित्ते-	४५२
दंसणणाणचरित्ते-	४६१
दंसणणाणचरित्त-	१०३
दंसणणाणावरण-	३१९
दंसणाभट्टाभट्टा -	३
दसणमूलो धम्मो-	२
दंसणवयसामाइय-	८५
दंसणसुद्धो सुद्धो-	३७४
दसेइ मोक्खमग्गं-	१२२
ध	
धणधण्णवत्थदाणं-	१५४
धण्णा ते भयवंता-	३२७
धम्माम्मि णिप्पवासो-	२४१
धम्मेण होइ लिंगं-	४४३
धम्मो दयाविसुद्धो-	१३३
धावदि पिंड णिमित्तं-	४५४
धुवसिद्धी तित्थयरो-	३९५

गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.
प	
पडिदेससमयपुग्गल-	२०५
पढिण्णवि किं कीरइ-	२३६
पयडहिं जिणवरलिंगं-	२४०
पयलियमाणकसाओ-	२४८
परदव्वर ओ बज्झदि-	३४८
परदव्वादो दुग्गइ-	३५१
परमप्पय झायंतो-	३८३
परमाणुपमाणं वा-	४०४
परिणामम्मि असुद्धे	१७५
पव्वज्ज संगचाए-	७९
पव्वज्जहीणगहिणं-	४५९
पसुमहिलसंढसंगं-	१६५
पाऊणाणाण सलिलं-	१०४
पीऊण णाणसलिलं -	२६३
पाओपहदंभावो-	४४८
पाणिवहेहि महाजस-	३०५
पावं खवइ असेसं -	२७८
पावंति भावसवणा-	२७०
पात्रं हवइ असेसं-	२८६
पासत्थभावणाओ-	१८४
पासंडी तिण्णि सया-	३१२
पित्त तमुत्तफेफस-	२०९
पीओसि थणच्छीरं-	१८८
पुंछलिघरि जो भुंजइ-	४६२
पुरिसायारो अप्पा-	४१९
पुरिसेण वि सहियाए-	४८९
पुरिसोवि जो ससुत्तो-	४०
पूयादिसु वयसहिय-	२५३
पंचमहव्वयजुत्ता-	१५२
पंचमहव्वय जुत्तो-	३६८
पंचमहव्वय जुत्तो-	५६
पंचविहचेलचायं-	२५१
पंच वि इंदियपाणा-	१४३
पंचसु महव्वदेसु य-	४१०
पचेन्दियसंवरण-	९१
पंचेव णुव्वयाइं-	८६
ब	
बलसोक्खणाणदंसण-	३२०
बहिरत्थे फुरियमणो-	३४३
बहुसत्थ अत्थजाणे-	१०९
बारसविहतवयरणं-	२५०
बारस अंगवियाणं-	१७०
बारसविहत्तवजुत्ता-	३६
बाहिरसंगच्चाओ-	२५९
बाहिरलिंगेण जुदो-	३९६
बाहिरसयणत्तावण-	२८३
बाहिरसंगविमुक्को-	४३२
बुद्धं जं बोहंतो-	११६
भ	
भरहे दुस्समकाले-	४११
भव्वजणबोहणत्थं-	१०१
भवसायरे अणते-	१९०
भावरहिण्ण सपुरिस-	१७७
भावरहिओ ण सिज्झइ-	१७४
भावविमुत्तो मुत्तो-	२१३
भावविसुद्धिणिमित्तं-	१७३
भावसमणो य धीरो-	२२१
भावसवणो वि पावइ-	२९७
भावसहिदो य मुणिणो-	२६९
भावहि अणुवेक्खाओ-	२६६
भावहि पढ़मंतच्चं-	२८४
भावहि पंचपयार-	२३५
भावेण होइ णग्गो-	२२४
भावेण होइ णग्गो-	२४३
भावेण होइ लिंगी-	२१८
भावेह भावसुद्धं-	१०८
भावेह भावसुद्धं-	२३०

गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.	गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.
भावो वि दिव्वसिवसु-	२४४	रूवत्थं सुद्धत्थ-	१६८
भावो हि पढमलिंगं-	१७२	**ल**	
भावं तिविहपयारं-	२४६	लद्धूण य मणुयत्तं-	३४
भीसणणरयगईए-	१७८	लावण्णसीलकुसलो-	४९९
भंजसु इंदियसेणं-	२६०	लिंगं इत्थीण हवदि-	५८
म		लिंगम्मि य इत्थीणं-	६०
मइधणुहं जस्स थिरं-	१३१	**व**	
मच्छो वि सालिसिथ्थो-	२५८	वधो णिरओ संतो-	४५७
मणवयणकायदव्वा -	११३	वच्छल्लं विणएण-	७४
मणुयभवेपंचिन्दिय-	१४४	वट्टेसु य खडेसुय-	४८८
ममत्तिं परिवज्जामि-	२२७	वंदमितवसावण्णा-	२८
मयमायकोहरहियो-	३८०	वयगुत्ती मणगुत्ती-	९५
मय राय दोस मोहो-	११४	वयसम्मत्तविसुद्धे-	१३४
मयराय दोषरहियो-	१४८	वर वयतवेहि सग्गो-	३६०
मलरहिओ कलचतो-	३४१	वायरणछंदवइसे-	४७९
महिलालोयणपुव्वर-	९८	वारि एक्कम्मि य जम्मे-	४८५
महुपिंगो णाम मुणी-	२१५	वालग्गकोडिमेत्त -	५३
मायावेल्लि असेसा-	३२८	विणयं पंचपयार-	२७४
मिच्छत्तछण्णदिट्ठी-	३०९	विसएसु मोहिदाणं-	४७६
मिच्छत तह कसाया -	२८७	विरहदि जाव जिणिंदो-	३५
मिच्छतं अण्णाणं-	३६३	विवरीयमूढभावा-	१६१
मिच्छादिट्ठी जो सो-	४३०	विसवेयणरत्तक्खय-	१९५
मिच्छाणाणेसु रओ-	३४६	वियलिंदए असीवी-	१९९
मिच्छादंसणमग्गे-	८०	विसयविरत्तो समणो-	२४९
मूलगुणं छित्तूण य-	४३३	विसयकसाएहि जुदो-	३८१
मोहमयगारवेहिं-	३२९	वीरंविसालणयणं-	४६४
मंसट्ठिसुक्कसोणिय-	२१२	वेरग्गपरोसाहू -	४३६
र		**स**	
रयणत्तयेअलद्धे-	२००	सच्चित्तभत्तपाणं-	२७२
रयणत्तयमाराहं-	३६९	सत्तसु णरयावासे-	१७९
रयणत्तयं पि जोई-	३७१	सत्तूमित्ते य समा-	१५५
राग करेदि णिच्चं-	४५८	सद्दवरओ सवणो-	३४९
रूवसिरिगव्विदाणं-	४७८	सद्दवियारो हूओ-	१६९

गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.	गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.
सद्दहदि य पत्तेदि य-	२५४	सिवमजरामरलिंग-	३३२
सपरज्झवसाएणं-	३४५	सिसुकाले य अयाणे-	२११
सपरा जगमे दहा-	११८	सीलगुणामंडिदाणं-	४८०
सपरावेक्ख लिंगं-	४२८	सोलस्स य णाणस्य य-	४६५
सम्मगुण मिच्छ दोसो-	४३१	सीलसहस्सट्ठारस-	२९०
सम्मत्त चरण भट्ठा	७३	सीलं तवो विसुद्ध-	४८३
सम्मत्तचरण सुद्धा-	७२	सीलं रक्खंताण-	४७५
सम्मत्तणाण दसण-	४९७	सुण्णाहरे तरूहिट्ठे-	१५०
सम्मत्तणाण दंसण-	६	सुद्धं-सुद्ध सहावं-	२४७
सम्मत्तणाणरहिओ-	४०९	सुणहाण गद्दहाण य-	४९२
सम्मत्तरयण भट्ठा-	४	सुण्यायार णिवासो-	९७
सम्मत्तविरहिया ण-	५	सुत्तं हि जाणमाणो-	३९
सम्मत्त सलिलपवहो-	७	सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं-	३८
सम्मत्तादो णाणं-	१५	सुत्तत्थं जिणभणियं-	४१
सम्मत्तं जो झायई-	४२२	सुरणिलयेसुसुरच्छर-	१८२
सम्मत्तं सण्णाणं-	४४०	सुहजोएण सुभावं-	३८९
सम्मद्दंसण पस्सदि -	८१	सुहेण भाविदं णाणं-	३९७
सम्मद्दंसणि पस्सदि-	१४९	सूत्तत्थपयविणट्ठो-	४३
सम्माइट्ठी सावय-	४२९	सेयायेयविदण्हू-	१६
सम्मूहदि रक्खेदि य-	४४६	सेवहि चउविहलिंगं-	२८१
सयलजणबोहणत्थं-	११०	सो णत्थि तत्पएसो-	२१७
सव्वगुणखीणकम्मा-	५०२	सो णत्थि दव्व सवणो-	२०३
सव्वणहुव्वदसी-	६४	सो देवो जो अत्थं-	१३२
सव्वविरओ वि भावहि-	२६७	संखिज्जमसंखिज्जगुणं-	८३
सवसा सत्तं तित्थं-	१५१	सग्गं तवेण सव्वो-	३५८
सव्वासवणिरोहेण-	३६५	संजम संजुत्तस्स य-	१२८
सव्वे कसाय मोत्तं-	३६२	ह	
सव्वे वि य परिहीणा-	४८१	हरिहरतुल्लो वि णरो-	४४
सहजुप्पण्णं रूवं-	२४	हिमजलणसलिलगुरुयर-	१९६
सामाइयं च पढमं-	८९	हिंसारहिए धम्मे-	४२५
साहंति जं महल्ला-	९४	हिंसाविरइ अहिंसा-	९३
सिद्धो सिद्धो आदा-	३७०	होऊण दिढचरित्तो-	३८४
सिद्धं जस्स सदत्थं-	११५		

OUR PUBLICATIONS

PANDIT NATHURAM PREMI RESEARCH SERIES

1	JAINA STUDIES: THEIR PRESENT STATE AND FUTURE TASKS	Prof. Ludwig Alsdorf
2	STORY OF PAESI	Prof. Willem Bollée
3	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	आचार्य समन्तभद्र
4	VYAVAHĀRA BHĀṢYA PĪṬHIKĀ	Prof. Willem Bollée
5	समाधितन्त्र	आचार्य पूज्यपाद
6	अट्ठपाहुड	आचार्य कुन्दकुन्द
7	तत्त्वार्थसूत्र	आचार्य प्रभाचन्द्र
8	योगामृतः योग सहज जीवन विज्ञान	योगाचार्य महावीर सैनिक
9	परमात्मप्रकाश	आचार्य जोइन्दु
10	योगसार	आचार्य जोइन्दु
11	ध्यानस्तव	आचार्य भास्करनन्दि
12	ध्यानशतक	अनाम आचार्य
13	बारस अणुवेक्खा	आचार्य कुन्दकुन्द
14	इष्टोपदेश	आचार्य पूज्यपाद
15	THE LIFE AND STORIES OF THE JAINA SAVIOUR PĀRŚVANĀTHA	Prof. Maurice Bloomfield
16	SAMĀDHITANTRA	Ācārya Pūjyapāda

23	JAINISM: AN ETERNAL PILGRIMAGE	Bal Patil
24	द्रव्यसंग्रह	आचार्य नेमिचन्द्र
25	पार्श्वनाथचरित्रम्	आचार्य वादिराज
26	PĀRŚVACARITRAM: THE LIFE OF PĀRŚVA	Prof. Willem Bollée
27	जैन साहित्य और इतिहास	पण्डित नाथूराम प्रेमी

OUR OTHER PUBLICATIONS

INTERNATIONAL JOURNAL OF JAINA STUDIES VOL. 1-3	Dr. Peter Flügel
दिलों के रिश्ते	पद्मश्री प्रेम धवन
वसुनन्दि श्रावकाचार	आचार्य वसुनन्दि
RELIGIOUS ETHICS: A SOURCEBOOK	Prof. Arthur Dobrin
NAVA SMARAṆA	Vinod Kapashi
GOOD FOR BUSINESS: ETHICS IN THE MARKETPLACE	Prof. Arthur Dobrin
JAYA GOMMAṬEŚA	Bal Patil
THE LOST ART OF HAPPINESS	Prof. Arthur Dobrin
BUSINESS ETHICS: THE RIGHT WAY TO RICHES	Prof. Arthur Dobrin

ISBN 978-81-88769-15-5

For more information please visit
www.gohgk.com